# साहित्य

## स्थायी मूल्य और मूल्यांकन



अक्षर प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड



# साहित्य
# स्थायी मूल्य और मूल्यांकन

रामविलास शर्मा



प्रकाशक : अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०
२/३६, अंसारी रोड,
दरियागंज, दिल्ली-६

मूल्य : सात रुपये

प्रथम संस्करण : १९६८

आवरण : सुखदेव दुग्गल

आवरण-मुद्रक : परमहंस प्रेस, दिल्ली

मुद्रक : रूपक प्रिंटर्स
२/७ अन्सारी रोड,
दरियागंज, दिल्ली-६

# अनुक्रम

साहित्य
स्थायी मूल्य और
मूल्यांकन

# १ | साहित्य के स्थायी मूल्य

सामाजिक परिस्थितियाँ बदल जाती हैं, फिर भी उन परिस्थितियों में रचा हुआ साहित्य हमें अच्छा लगता है। यह तथ्य पेश करके कुछ लेखक मार्क्सवाद को ग़लत साबित करना चाहते हैं। उनकी दलील यह होती है—मार्क्सवाद मनुष्य के आर्थिक जीवन को बुनियाद मानता है और साहित्य को उसका प्रतिबिम्ब; बुनियाद तो बदल जाती है लेकिन साहित्य कायम रहता है और अपने युग के बाद भी आनन्द देता है।

दिल्ली की 'अलोचना' के सम्पादकीय स्तंभ में साहित्य के स्थायी मूल्यों का प्रश्न उठाया गया है। पिछले युगों का साहित्य क्यों अच्छा लगता है, इसका उत्तर देते हुए संपादक लिखते हैं, "पर साहित्य, विशेष कर उच्च साहित्य, जीवन को जिस समग्रता में ग्रहण करता है, अथवा पूर्णता में अभिव्यक्त करता है, उसकी अपने आप में देश-काल से निरपेक्ष स्थिति हो जाती है।"[1]

सवाल है कि जीवन की पूर्णता कहाँ निवास करती है? वह जीवन कौन-सा है, जो देशकाल से निरपेक्ष होता है? जो देश-काल से निरपेक्ष है, वह देश-काल-सापेक्ष भाषा में अभिव्यक्त कैसे होता है? समग्रता में ग्रहण, पूर्णता में अभिव्यक्ति आदि टुकड़े क्या कोई जंतर-मंतर हैं जिनसे साहित्य 'अपने-आप' निरपेक्ष पद, कैवल्य, मोक्ष या निर्वाण प्राप्त कर लेगा?

संपादक आगे लिखते हैं, "युगीन जीवन की सीमाएँ उसमें प्रत्यक्ष न हों ऐसी बात नहीं, पर वह जीवन के संतुलन का जो आधार ग्रहण करता है, वह युग-युग के मानव में एक प्रकार से समान होता है और इसी संतुलन की संपूर्णता को व्यापक अर्थों में सौन्दर्य-बोध भी कह सकते हैं, और यही नया सौन्दर्य-बोध समीक्षा का स्थायी किन्तु निरंतर विकासशील मानदंड बन सकता है, क्योंकि इसी में प्रयोजन और प्रेषणीयता का सूक्ष्म समन्वय सम्पन्न हो सकता है।"

---

१. अक्तूबर, ५३

साहित्य के स्थायित्व का यह आधार निकला कि जीवन का एक विशेष संतुलन युग-युग के मानव मे समान होता है। यह संतुलन क्या है, किन तत्वों में संतुलन होता है, हर युग के मानव में वह कैसे बना रहता है, यह सब रहस्यमय पर्दे के पीछे छिपा हुआ है।

अभी संतुलन के आधार का पता न लगा था कि संतुलन की संपूर्णता और प्रकट हो गयी। संपूर्णता भी मानो असंपूर्ण हो, इसलिए 'संतुलन की संपूर्णता को व्यापक अर्थों में' ग्रहण करने की जरूरत पड़ी। इस ग्रहण-क्रिया के बाद जो पल्ले पड़े, उसका नाम है, सौन्दर्यबोध। यही साहित्य-समीक्षा का स्थायी मानदंड है, *विकासशील मानदंड भी है!* यह विकास देशकाल से निरपेक्ष किस लोक में होता है, यह कहीं स्पष्ट नहीं किया गया। वह प्रयोजन कौन-सा है, प्रेषणीयता किसके प्रति है, इनका सूक्ष्म समन्वय किस तरह होता है, इन प्रश्नों का भी यहाँ कोई उत्तर नहीं है। हाँ, प्रयोजन और प्रेषणीयता, सूक्ष्म समन्वय और सम्पन्न में *अनुप्रास-चमत्कार अवश्य है।*

१९५० के साल बर्लिन में जो 'कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम' हुई थी, उसमें अमरीकी लेखक जेम्स टी० फ़ैरेल ने कला के बारे में एक नुस्खा यह भी रखा था—'टु एक्स्प्लोर दि नेचर ऑफ़ सेल्फ़'('आत्म प्रकृति का अन्वेषण')। साहित्य का एक स्थायी तत्व और निकला, *'मनुष्य की आत्मान्वेषी वृत्ति'*। अब देखिये, तालस्ताय के 'वार ऐण्ड पीस' में स्वाधीनता के लिए रूसी जनता का अदम्य संघर्ष चित्रित नहीं किया गया, वरन् 'एक विराट् कैनवस पर कितने ही चरित्र आते हैं जो अपनी जीवन प्रक्रिया में आत्मान्वेषण में तल्लीन हैं।'[१] अर्थात् 'वार ऐण्ड पीस' उपन्यास क्या है, वैरागियों का बगीचा है जहाँ अनेक जटाधारी साधु-सन्त पद्मासन मारे ब्रह्मचिन्तन में लीन हैं।

यह ब्रह्मचिन्तन भी कितना सरस है कि "एक ही व्यक्ति अपने जीवन की विभिन्न घड़ियों में विभिन्न स्तरों पर आत्मान्वेषण करता है और विभिन्न रीतियों से अपने आप को पाता और खोता चलता है।"

यह पढ़कर हठात् 'आलोचना' के संपादकीय लेख याद आ जाते हैं। विभिन्न घड़ियों में और विभिन्न स्तरों पर उनके सम्पादक सन्त साहित्य की मर्यादा और मूल्यों के अन्वेषण में तल्लीन, उन्हें निरन्तर पाते और खोते चलते हैं। कभी संतुलन की संपूर्णता के व्यापक अर्थ हाथ लगते हैं तो कभी प्रयोजन और प्रेषणीयता का सूक्ष्म समन्वय। फिर गिन्सबर्ग का तंत्रशास्त्र हाथ लगा तो 'विवेक पर आधारित न्याय के प्रति मानववादी आग्रह' मंत्र का जप शुरू हुआ और कहीं फ़ैरेल को

---

१. (आलोचना, अक्तूबर १९५४, सम्पादकीय)।

फ़ार्मूला दिखाई दे गया तो आत्मान्वेषण की तल्लीनता प्रकट हो गयी ! निःसन्देह पाने और खोने का यह काम जितनी रीतियों से चलता है, उनकी गिनती कठिन है। 'आलोचना' की मोटी जिल्दों का ध्यान करके ही मानो लिखा गया है, "एक सीमाहीन प्रसार है, जिसमें जितने प्रकार के पात्र हैं उतने ही प्रकार की पद्धतियाँ और प्रणालियाँ हैं (कहीं फ़ैरेल, कहीं बर्नहम, कहीं केस्टलर कहीं गिन्सबर्ग) और उन सबके बीच 'आत्मोपलब्धि' का तथ्य (सम्पादक मण्डली में धर्मवीर भारती की तरह) उनको वैयक्तिता ('हमारा हृदय हम से अलग जा पड़ा है और हमारा दिमाग़ प्याज के छिलकों की तरह उतर गया है !'), सजीवता ('इन फ़ीरोज़ी ओठों पर बरबाद मेरी ज़िन्दगी' !) और सार्थकता ('कांग्रेस फ़ार कल्चरल फ्रीडम' ज़िदाबाद !) प्रदान करता है।"

आत्मोपलब्धि का यह सूत्र शुरू होता है तॉल्स्ताय से लेकिन उसकी पूर्ण सिद्धि होती है आगे चल कर—मार्क्सवाद के सचेत विरोधियों में। ताल्स्ताय का हवाला सिर्फ़ इसलिए दिया गया है कि साहित्य में मार्क्सवाद-विरोध की परंपरा आप पहचानें। फ्रांस में एक तथाकथित अस्तित्ववादियों का गुट है जिसमें "मार्क्सवाद की अन्ध सामूहिकता के विरुद्ध काफ़ी तीखा विद्रोह है।" लेकिन दुर्भाग्य से यह गुट बज़ात ख़ुद "द्वितीय महायुद्ध में पराजित फ्रांस की देन है।" इस गुट के नेता जां पाल सार्त्र हैं। जब वह मार्क्सवाद का विरोध करते थे, अमरीकी प्रचारक उन्हें ख़ूब उछालते थे लेकिन जब से उन्होंने शांति के समर्थन में लिखना-बोलना शुरू किया है, तब से ये प्रचारक उन्हें कोसने लगे हैं। आलोचना के संपादक भी सार्त्र के लिए कहते हैं कि इनके पात्रों की 'आत्मोपलब्धि झूठी और कृत्रिम-सी प्रतीत होता है।' इसलिए शुद्ध आत्मोपलब्धि के लिए सम्पादक दूसरी ओर चलते हैं—"जिन क्षेत्रों में चिन्तन-स्वाधीनता है।" "जान स्टीन बेक, आँर्थर कॉएस्लर और इगनात्सियो सिलों स्पष्ट रूप में घोषित कर चुके हैं कि अर्द्ध राजनीतिक मतवादों के बजाय मनुष्य की आत्मोपलब्धि कथा साहित्य का केन्द्रीय सत्य है।" ये लेखक कम्युनिस्ट-विरोध और अमरीकी-युद्ध प्रचार में काफ़ी नाम कमा चुके हैं। यद्यपि उनका युद्ध प्रचार अर्द्ध राजनीतिक नहीं, पूर्ण राजनीतिक मतवाद है; फिर भी वे यह कहने से नहीं चूकते कि कथा-साहित्य का केन्द्रीय सत्य मनुष्य की आत्मोपलब्धि है।

*साहित्य के मूल्य स्थायी हैं, निरपेक्ष रूप से नहीं, सापेक्ष रूप से, देश काल से परे नहीं देश काल की सीमाओं में निरंतर विकास करती हुई मानवजाति की संचित सांस्कृतिक निधि के रूप में।*

साहित्य के मूल्य स्थायी हैं और मनुष्य ने अपने सुदीर्घ विकासक्रम और जीवन संघर्ष के बीच ही उन्हें पाया है। आहार, निद्रा, भय और मैथुन, पशु और मनुष्य में समान रूप से है। रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि के इन्द्रियबोध मनुष्य

और पशु में समान रूप से विद्यमान हैं लेकिन समान मात्रा में नहीं, समान रूप से विकसित नहीं। अपने सामाजिक जीवनकाल में मनुष्य जहाँ पशुओं से भिन्न स्तर पर विकसित हुआ है, वहाँ उसने अपने इन्द्रियबोध का भी परिष्कार किया है। शब्द पर मुग्ध होना, रंग-रूप पर रीझना उसके विवेक का परिचायक है। यह विवेक सामाजिक विकास से ही संभव हुआ है, वरना मनुष्यभक्षी जंगली जातियाँ भी श्रेष्ठ संगीतज्ञ और चित्रकार पैदा कर देतीं।

रूप और शब्द के बिना न तो संसार की सत्ता सम्भव है, न साहित्य की। "ज्ञानेन्द्रियों से समन्वित मनुष्य जाति, जगत् नामक अपार और अगाध रूप-समुद्र में छोड़ दी गयी है।"[1] मनुष्य और प्रकृति की यह रूपात्मक एकता साहित्य का मूलाधार है। इन्द्रियबोध का परिष्कार, इन्द्रियबोध के सहारे कला की सृष्टि—यह अटल नियम मनुष्य के सामाजिक विकास के आदि से चला आ रहा है। मनुष्य के इन्द्रियबोध में आदिकाव्य से लेकर आज तक मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। यही कारण है कि निर्झरों का संगीत, वन-पर्वत की शोभा, मनुष्य का रूप और यौवन जैसे हजार साल पहले कवियों के लिये आकर्षक था, वैसे आज भी है। और मनुष्य के इस इन्द्रियबोध का निखार हुआ उसके सामाजिक जीवन के कारण। उसके विकास के कारण यह इन्द्रियबोध सामाजिक परिस्थितियों में सम्भव हुआ है लेकिन वह उनका सीधा प्रतिबिम्ब नहीं है। मनुष्य का इन्द्रियबोध उसके सामाजिक विकास के साथ आरम्भ नहीं हुआ. वह अपरिष्कृत रूप में उसके साथ पहले से था। इसीलिये उसे सामाजिक परिस्थितियों का सीधा प्रतिबिम्ब मानना गलत है। साथ ही इन्द्रियबोध का परिष्कार सामाजिक विकास-क्रम ही में सम्भव हुआ है, इसलिए वह समाज-निरपेक्ष नहीं है।

मार्क्सवाद ने मानव संस्कृति और समाज-व्यवस्था के परस्पर संबंधों की व्याख्या करते हुए इस बात पर जोर दिया है कि संस्कृति सापेक्ष रूप से स्वाधीन है। यह सापेक्ष स्वाधीनता का सिद्धान्त मनुष्य के इन्द्रियबोध की, उसकी सौन्दर्य-वृत्ति की बहुत अच्छी व्याख्या करता है। यह समझना कि समाज-व्यवस्था बदलने के साथ मनुष्य का इन्द्रियबोध भी मूलतः बदल जाता है, निराधार कल्पना है। मनुष्य की चेतना में सबसे व्यापक स्तर उसके इन्द्रियबोध का है। उसके विचार बदल जाते हैं, भाव बदल जाते हैं लेकिन उसका इन्द्रिय-बोध फिर भी अपेक्षाकृत स्थायी रहता है।

साहित्य शब्द द्वारा, चित्रों द्वारा मनुष्य को प्रभावित करता है। उसका प्रभाव दर्शन और विज्ञान से ज्यादा व्यापक इसीलिये होता है कि उसका सम्बन्ध इन्द्रियबोध से है। उसका माध्यम ही रूपमय है; कल्पना के सहारे वह तरह-

---

१. आचार्य शुक्ल : रस मीमांसा : पृ० २५९

तरह के रूप पाठक या श्रोता के मन में जगाता है। उसकी विषय-वस्तु भी रूप-मय है। वह चिन्तन के निष्कर्ष ही नहीं देता, जीवन के चित्र भी देता है। दर्शन और विज्ञान से भिन्न उसकी निजी कलात्मक विशेषता जीवन के चित्र देने में है। इसलिये मार्क्सवाद, फ़ार्मूलों के अनुसार साहित्य रचने का विरोध करता है, ऐसा साहित्य चित्रमय नही होता, उसके चित्रों में सजीवता नहीं होती। उसमें केवल जीवन के निष्कर्ष रहते हैं, जीवन के चित्र नही। वह अपनी निजी कलात्मक विशेषता खो देता है।

एंगेल्स ने कवि प्लाटेन के बारे मे लिखा था, "प्लाटेन की ग़लती यह थी कि वह अपनी बुद्धि की उपज को कविता समझता था।"[1] कविता के लिए विचार काफ़ी नहीं है—प्लाटेन एक श्रेष्ठ विचारक था—उसके लिए चित्रमय कल्पना भी चाहिये।

सामाजिक विकास और इन्द्रियबोध का परस्पर सम्बन्ध दिखाते हुए मार्क्स ने लिखा था। "Only through the objectively unfolding richness of the human being is the richness of subjective human sensuousness, such as a musical ear, an eye for the beauty of form, in short, senses capable of human enjoyment and which prove to be essentially human powers, partly developed and partly created," *

मनुष्य के वस्तुगत समृद्ध विकास से ही यह सम्भव होता है कि उसकी आत्मगत ऐन्द्रियता अंशतः विकसित हो और अंशतः रची जाय, जैसे कि संगीत-प्रेम, रूप की पहचान, मानवीय भोग की क्षमता रखने वाली सभी इन्द्रियाँ, जो मूलतः मानव शक्तियाँ सिद्ध होती हैं।

मनुष्य का इन्द्रियबोध अंशतः विकसित होता है, अंशतः रचा जाता है। मनुष्य की आत्मगत ऐन्द्रियता उसके वस्तुगत सामाजिक जीवन से ही विकसित और समृद्ध होती है लेकिन यह ऐन्द्रियता उसके वस्तुगत जीवन का सीधा प्रतिबिम्ब नहीं है।

मनुष्य का इन्द्रियबोध उसके समूचे विकास का परिणाम है। मार्क्स का कहना है, "पाँचों इन्द्रियों का निर्माण अब तक के समूचे विश्व इतिहास का काम है।"[1] मार्क्स आगे कहते हैं कि भूख से जिसके प्राण निकल रहे हों, उसके खाने में और पशु के खाने में क्या अन्तर है, यह कहना कठिन है। परेशान ग़रीब आदमी को सुन्दर से सुन्दर नाटक देखने का चाव नहीं होता। धातुओं का व्यापार करने वाला सिर्फ़ उनकी बाजारू कीमत देखता है, उनकी मौलिकता और सौन्दर्य नहीं।

---

१. लिटरेचर एण्ड आर्ट : ले० मार्क्स और एंगेल्स, : पृ० ८४।

इस तरह जीवन की परिस्थितियाँ मनुष्य की सौन्दर्यवृत्ति को कुण्ठित भी करती हैं। मार्क्सवाद पर अक्सर यह आरोप लगाया जाता है कि उसे उपयोगितावाद के अलावा सौन्दर्य से काम नहीं। लेकिन सौन्दर्य का विरोधी कौन है, वे जो करोड़ों आदमियों को ग़रीबी और भुखमरी के हवाले करके उनकी सौन्दर्यवृत्तियाँ कुण्ठित कर देते हैं या वे जो उनके लिए भी इन्सान की ज़िंदगी चाहते हैं, उनके अधिकारों के लिए लड़ते हैं, उस समाज की रचना करते हैं जहाँ मनुष्य की सौन्दर्यवृत्ति कुण्ठित न होकर पल्लवित हो सके? मार्क्सवाद को सौन्दर्य का विरोधी समझने वाले सज्जन मार्क्स का यह वाक्य ध्यान से पढ़ें :

"Senses limited by crudely practical needs have only a narrow meaning."

("वे इन्द्रियाँ जो जीवन की स्थूल व्यावहारिक आवश्यकताओं से सीमित हैं अपनी सार्थकता बहुत कम कर लेती हैं।")

मार्क्सवाद ऐन्द्रियता का विरोधी नहीं है। जीवन में भोग और आनन्द का स्थान है; साहित्य में भी उसका स्थान होना चाहिए। कवि वेर्थ के लिए एंगेल्स ने लिखा था कि वह जर्मन मजदूर वर्ग का पहला और सबसे महत्वपूर्ण कवि है। फ्राइलीग्राथ से उसकी तुलना करते हुए एंगेल्स ने लिखा था, "दरअसल मौलिकता, व्यंग्य और खास तौर से ऐन्द्रिय उल्लास (सेन्सुअस फ़ायर) में उसकी सामाजिक और राजनीतिक कविताएँ फ्राइलीग्राथ से कहीं बढ़ कर हैं।" एंगेल्स ने उसे हाइने से भी श्रेष्ठ बतलाया और "स्वाभाविक स्वस्थ ऐन्द्रियता और शारीरिक आनन्द की व्यंजना में," केवल गेटे को ही उससे ऊँचा दर्जा दिया।

यद्यपि इन्द्रियबोध मनुष्यों में प्रायः समान है, फिर भी उसका परिष्कार सब में एक-सा नहीं होता। ऐसे युग में जब शासक वर्ग अपनी ऐतिहासिक भूमिका पूरी कर चुका हो, यह बात बहुत साफ दिखायी देती है कि उसका इन्द्रियबोध अस्वाभाविक और अस्वस्थ हो जाता है। एंगेल्स ने व्यक्तिगत सम्पत्ति और राज्य सत्ता के जन्म का विश्लेषण करते हुए यूनान के शासक वर्ग का जिक्र किया है जिनके लिए प्रेम का अर्थ केवल भोग था और जिन्हें इसकी भी चिन्ता न रहती थी कि भोग का विषय नर है या नारी। दासों के स्वामी उस समय तक अपनी ऐतिहासिक भूमिका पूरी कर चुके थे। उनका जीवन काहिल, कामचोर, निकम्मे विलासियों का जीवन बन गया था। उनकी इस सामाजिक स्थिति का प्रभाव उनकी साहित्यिक रुचि पर भी पड़ा और वह विकृत और अस्वाभाविक होती गयी।

हिन्दी की रीतिकालीन कविता में नायिकाओं की भरमार प्रकृति-वर्णन के नाम पर घिसे-मिटे अलंकार, दरबारों की उर्दू शायरी में हुस्न और इश्क की आतिशबाजी—यह सब सामंती शासक वर्ग की विकृत रुचि का परिचायक है।

यूरोप और अमरीका का पूँजीवादी वर्ग आज मध्यकालीन पतित सामन्ती

ऐन्द्रियता का प्रतिनिधि बन कर उसे और भी विकृत करता जा रहा है। नग्न स्त्रियों का चित्रण, अस्वस्थ काम चेष्टाएँ, सैडिज्म और मैसोकिज्म जैसी बीमारियाँ, सनसनीखेज घटनाएँ, हत्या, डकैती के रोमांचक वर्णन—पतनशील वर्ग अब इस तरह की ऐन्द्रियता में रस लेता है। उसकी और जनसाधारण की साहित्यिक रुचि में ऐसी दरार पड़ गयी है जो अब पाटी नहीं जा सकती। इस रुचि के विरुद्ध तमाम प्राचीन संस्कृति की स्वस्थ परम्पराओं को अपना आधार बना कर जनरुचि को विकसित करने का काम यूरोप का मजदूर वर्ग कर रहा है।

मनुष्य के भावों और विचारों का सहज सम्बन्ध उसके इन्द्रियबोध से है। शुक्ल जी ने लिखा है, "आरम्भ में मनुष्य जाति की चेतन सत्ता इन्द्रियज ज्ञान की समष्टि के रूप में ही अधिकतर रही। पीछे ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती गयी है त्यों-त्यों मनुष्य की ज्ञान सत्ता बुद्धि-व्यवसायात्मक होती गयी है।"[1] मनुष्य के ज्ञान का आधार भौतिक जगत् में उसका कर्ममय जीवन उसका ऐन्द्रिय अनुभव और व्यवहार है। इन्द्रियज ज्ञान के साथ मनुष्य की भाव-सत्ता का भी जन्म होता है। समाज, प्रकृति, परिवार आदि के प्रति मनुष्य की व्यावहारिक अनुभूति के आधार पर उसमें राग-द्वेष पैदा होता है। भाव और इन्द्रियबोध का घनिष्ठ सम्बन्ध है। शुक्लजी के शब्दों में "प्रत्येक भाव का प्रथम अवयव विषय-बोध ही होता है।"

भावों का विकास सामाजिक विकास पर ही निर्भर है। अपने प्रथम अवयव इन्द्रियबोध के रूप में भाव आदिम समाज के मानव में भी मिलेगा, लेकिन अपने परिष्कृत मानवीय रूप में, वह विकसित समाज व्यवस्था में ही सुलभ है। मनुष्य का भाव-जगत् उतना व्यापक और सार्वजनीन नहीं है जितना उसका इन्द्रियबोध, पर उसके विचार-जगत् से वह अधिक व्यापक है। रति, घृणा, उत्साह आदि के भाव मानव सभ्यता के आदिकाल से चले आ रहे हैं और इन्हें उचित ही स्थायी भाव की संज्ञा दी गयी है। विज्ञान और दर्शन की अपेक्षा साहित्य की व्यापकता का यह दूसरा कारण है। व्यक्तिगत सम्पत्ति और पितृ-सत्ता के उद्भव के बाद से पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-बहन, पड़ोसियों आदि में जो परस्पर भाव-सम्बन्ध क़ायम हुए थे—जिनका कारण आदिम समाज व्यवस्था के बाद मानव का विकास था—वे बहुत कुछ अब भी बने हुए हैं। यह भाव-जगत् बराबर समृद्ध होता गया है। मिसाल के लिए सुब्रह्मण्यम् भारती, रवीन्द्रनाथ और प्रेमचन्द में जो उत्कट देश-प्रेम मिलता है, वह मध्यकालीन कवियों के लिये दुर्लभ था। देशभक्ति की भावना का विकास हमारे नये सामाजिक विकास का ही परिणाम है।

कह सकते हैं कि रति-भाव मनुष्य में पहले से है। केवल आलम्बन बदल गया है। प्रेम तो प्रेम, चाहे रंभा और उर्वशी से हो, चाहे शंकर और विष्णु से, चाहे

---

१. काव्य में अभिव्यंजनावाद

गंगा और गोदावरी से, चाहे देश और जनता से। इस तर्क से इतना ही सिद्ध होता है कि देश-प्रेम की क्षमता मनुष्य में पहले से थी लेकिन इस क्षमता का उपयोग आधुनिक युग की ही विशेषता है। यह स्वीकार करना होगा कि हमारा भाव-जगत् सामाजिक विकास के साथ अधिक समृद्ध और परिष्कृत होता गया है। लेकिन यहाँ भी अपनी ऐतिहासिक भूमिका पूरी कर चुकने वाले शासक-वर्ग भाव-जगत् को संकीर्ण और विकृत ही करते हैं। १६वीं सदी के आस-पास यूरोप के नव-जागरण से पहले वहाँ के सामन्त वर्ग ने पुरोहितों की सहायता से कला और संस्कृति को रूढ़ियो से जकड़ रक्खा था। उन्हीं दिनों हिन्दी के दरबारी कवियों ने जहाँ चमत्कारवाद, अतिरंजित चित्रण, कृत्रिम भाव-व्यंजना का आश्रय लिया, वहाँ सन्त कवियों ने जन-साधारण के विस्तृत भावजगत् को चित्रित और समृद्ध किया। आधुनिक यूरोप का पूँजीपति वर्ग अपने भावों में कुसंस्कृत और पतित दिखायी देता है। जनता से भय, भविष्य के प्रति निराशा, कुढ़न और खीझ, मनुष्य से घृणा, नयी समाजवादी संस्कृति को कोसना—ये आज के पूँजीवादी भावजगत् की विशेषताएँ हैं। इसके विपरीत देश-प्रेम, संसार की जनता का भाईचारा, भविष्य में दृढ़ आस्था, आशा और उल्लास—ये शोषण से लड़नेवाली और नया समाज रचनेवाली जनता के भावजगत् की विशेषताएँ हैं। वर्तमान युग में साहित्यकारों के आशावाद का एक ठोस आधार है—ग़रीबी और ग़ुलामी के ख़िलाफ़ जनता का संगठन और संघर्ष, एक विशाल भूभाग में मेहनत करनेवालों के नये समाज की रचना। यह ठोस वास्तविकता ही इलियटवादियों के 'अज्ञात' भय का कारण है, यद्यपि उसमें अज्ञात रहस्य जैसी कोई बात नहीं है। ऐसे लोग रोने-कोसने के अलावा और कर ही क्या सकते हैं? उनके भाव जगत् की यही विशेषता है।

भाव जगत् की अपेक्षा मनुष्य के धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक विचार और जल्दी बदलते हैं। पैदावार के तरीके और मनुष्यों के परस्पर आर्थिक सम्बन्धों से इनका गहरा सम्बन्ध होता है। यही कारण है कि शेक्सपियर या तुलसीदास के अनेक विचारों से सहमत न होकर भी पाठक उनके साहित्य में रस लेता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि साहित्य में विचारों की भूमिका नगण्य है या उसका सौन्दर्य इन्द्रियबोध और भावों पर ही निर्भर है। साहित्य में मनुष्य के विचारों की महत्व-पूर्ण भूमिका है और इसीलिए स्थापत्य, शिल्प, चित्रकला और संगीत से उसका स्थान ऊँचा है।

समाज-व्यवस्था के बदलने के साथ, पैदावार का तरीक़ा और मनुष्य के आर्थिक सम्बन्ध बदलने के साथ, उसके विचार भी बदलते हैं; लेकिन नयी विचार-धाराओं का विकास हवा में नहीं होता, वे पहले की विचारधाराओं से अपने लिये बहुत से तत्व समेट कर अपना विकास करती हैं। मिसाल के लिए क्रांतिकारी विचारक मार्क्स ने जर्मन दर्शन, फ्रांसीसी समाजवाद, अंग्रेजी अर्थशास्त्र की अनेक

मान्यताओं को अपनाया, इन सबका मूल्यांकन करके मानव ज्ञानकोष को और समृद्ध किया। सम्पत्तिशाली वर्गों ने भी अपनी क्रांतिकारी ऐतिहासिक भूमिका के समय ऐसी विचारधाराओं को जन्म दिया जिनके बहुत से तत्व आज भी मूल्यवान हैं। परम्परा और प्रगति का यह सम्बन्ध ध्यान में रखना आवश्यक है। हम पुराने साहित्यकारों से रचना-कौशल, भाव-सौन्दर्य, इन्द्रियबोध का परिष्कार ही नहीं सीख सकते, उनसे विचारधारा के क्षेत्र में भी बहुत कुछ सीख सकते हैं।

प्रत्येक युग के प्रमुख विचारों की छाप उस युग के साहित्य पर मिलती है। इन विचारों से मनुष्य के भाव-जगत का गहरा सम्बन्ध होता है। कवियों के भावबिम्ब, विचारों की ज्योति से दीप्त हो उठते हैं। इसीलिए यह प्रश्न महत्वपूर्ण है कि साहित्यकार का दृष्टिकोण क्या है, सामाजिक समस्याओं को वह कैसे समझता है, उन्हें किस तरह हल करता है। उच्च साहित्य में महान् विचारों, गम्भीर भावों और सूक्ष्म इन्द्रियबोध का समन्वय मिलता है, इनका असंतुलन साहित्य के प्रभाव और उसके कलात्मक सौन्दर्य को कम करता है।

यूरोप और अमरीका का पूँजीपति वर्ग आज बुद्धि के बदले अन्धविश्वासों को प्रश्रय देता है, अपनी शोषण-व्यवस्था क़ायम रखने के लिए वह ऐसी विचारधारा का प्रचार करता है जिसका मूल आधार और उद्देश्य है—धोखा। जनता को ठगने के लिए वह सारी दुनिया में व्यक्ति की स्वाधीनता का ठेकेदार बनता है जबकि हक़ीक़त में वह करोड़ों को पगार पानेवाला गुलाम बनाकर रखता है और लाखों को बेकारी में मरने के लिए छोड़ देता है। सत्य से आँख चुरानेवाली विचारधारा किसी में आशा और उत्साह कैसे भर सकती है? इसीलिए उससे प्रभावित लेखकों का मूल स्वर घुटन, निराशा और पराजय का है।

मनुष्य स्वतन्त्र हो, स्वतन्त्रता से रहे, सोचे, लिखे-पढ़े, मध्यकालीन भाग्यवाद के खिलाफ़ यह विचार सामाजिक प्रगति के साथ-साथ अधिकाधिक जनता में फैलता गया है। 'फ्रीडम फ़र्स्ट' (सबसे पहले स्वतन्त्रता) वाले प्रचारक इस विचार का बड़ा तूमार बाँधते हैं; कहते हैं, समाजवादी देशों में इन्सान गुलाम है, उसकी स्वाधीनता के हिमायती हम हैं। मार्क्स ने लिखा था :

"The first freedom of the press consists in its not being a business."

प्रेस की पहली आजादी उसके व्यापार न होने में है।

पूँजीवादी समाज में प्रेस बराबर रुपया कमाने का साधन होता है और इसीलिए बड़े-बड़े पूँजीपति उसी तरह की विचारधाराओं को प्रोत्साहन देते हैं जो धन-संचय की पद्धति का किसी न किसी तरह समर्थन करता हो। समाजवादी व्यवस्था में प्रेस पैसा बटोरने की मशीन नहीं है, उसका काम चन्द पढ़े-लिखे लोगों का मनोरंजन करना नहीं है; सार्वजनिक शिक्षा के आधार पर ज्ञान का व्यापक

प्रसार और साहित्य की समृद्धि उसका उद्देश्य है।

मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास उसके सामाजिक जीवन से ही सम्भव हुआ है, इसीलिए व्यक्ति और समाज की स्वाधीनता परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे के आश्रित हैं। शोषणमुक्त समाज में विकास की सुविधाएँ मिलने पर—कागज पर लिखे अधिकारों को अमल में लाने की भौतिक सुविधा मिलने पर ही मनुष्य अपनी स्वाधीनता चरितार्थ कर सकता है। संसार के शोषितजन आज अपने राष्ट्रीय वर्गगत और व्यक्तिगत अधिकारों के लिए संगठित होकर लड़ रहे हैं। उनकी यह स्वाधीनता-कामना सभी अच्छे लेखकों का संबल है।

साहित्य के रूप और उसकी विषयवस्तु का बहुत गहरा सम्बन्ध है। ये एक दूसरे से एकान्त भिन्न न होकर परस्पर सम्बद्ध, एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। कविता की भाषा, उसकी चित्रमयता, छन्द-योजना आदि विषयवस्तु से तटस्थ न रह कर उसे प्रभावशाली बनाते हैं। साहित्य का शिल्प, उसके विभिन्न रूप, सामाजिक विकास से ही सम्भव हुए हैं, उस पर बहुत कुछ निर्भर हैं। "यह बात आकस्मिक नहीं है कि हर प्राचीन साहित्य में महाकाव्य साहित्य का मुख्य रूप है और आधुनिक उद्योग-धन्धों की प्रगति के साथ उपन्यास साहित्य का मुख्य-रूप बन गया है। जनता तक साहित्य पहुँचाने के साधनों में जो परिवर्तन हुए, उनका प्रभाव उसके रूपों पर भी पड़ा।

साहित्य के कलात्मक सौन्दर्य का गहरा सम्बन्ध मनुष्य के इन्द्रिय-बोध से है। इंग्लैण्ड में भौतिकवाद का प्रारम्भिक विकास होते ही साहित्यशास्त्र में कल्पना (इमैजिनेशन) चर्चा का महत्वपूर्ण विषय बन गयी। कला की विशेषता उसकी चित्रमयता मानी जाने लगी। इन्द्रियबोध की व्यापक सार्वजनिकता का उल्लेख ऊपर हो चुका है। इससे कुछ लोगों ने यह परिणाम निकाला कि साहित्य में चित्र सौंदर्य ही सब कुछ है। रूप और विषयवस्तु के परस्पर सम्बन्ध की अवहेलना करके केवल रूप पर जोर देना ह्रासकालीन पूंजीवादी साहित्यकारों की विशेषता है। लेकिन रूप पर इतना जोर देने पर भी वे सुरूप साहित्य न रच सके, उनके चित्रों में वह भव्यता न पैदा हो सकी जो पहले के साहित्यकारों में मिलती है। इसका कारण यह है कि साहित्य में सजीव चित्र चाहिए, केवल रेखाएँ और रंग-रूप नहीं। शुक्लजी के शब्दों में "हृदय की अनुभूति अंगी है, मूर्त रूप अंग—भाव प्रधान हैं, कल्पना उसकी सहयोगिनी।"[1] हमारे अनेक प्रयोगवादी कवियों के जैसे बेजान भाव हैं, वैसे ही कुघड़ उनके काव्य-चित्र हैं।

सामाजिक परिवर्तन के समय वर्गों की रूप-सम्बन्धी रुचि का भेद स्पष्ट दिखायी देने लगता है। रीतिकालीन कवियों का शिल्प एक ओर, संत कवियों और छायावादियों का शिल्प दूसरी ओर—दोनों का अन्तर स्पष्ट है। एक में चमत्कार है तो दूसरे में सहज सौन्दर्य है; एक में महीन पच्चीकारी है तो दूसरे में

चित्रों और छन्दों में गरिमा, उदात्त भावव्यंजता के अनुकूल शिल्प की भव्यता। एक ही छंद का प्रयोग करने पर भी गति और शब्द-संगीत में अंतर है। पश्चिम के पूँजीवादी लेखक रूप के विचार से भी अब श्रेष्ठ रचनाएँ नहीं दे पाते। उनकी विचार शृंखला टूटी हुई, चित्र भाव-शून्य, कथानक और चरित्र सामंजस्य-हीन, भाषा अस्वाभाविक और दुर्बोध—उनके शिल्प की ये विशेषताएँ हैं। इसके विपरीत वे सभी लेखक जो अपनी जनता और साहित्य की जातीय परम्परा को प्यार करते हैं, अपनी लोक-मंगलकारी वस्तु के अनुरूप सुन्दर शिल्प का निर्माण भी करते हैं।

ऊपर के विवेचन से ये परिणाम निकलते हैं—

साहित्य आर्थिक परिस्थितियों से नियमित, होता है लेकिन उनका सीधा प्रतिबिम्ब नहीं है। उसकी अपनी सापेक्ष स्वाधीनता है। साहित्य के सभी तत्व समान रूप से परिवर्तनशील नहीं हैं; इन्द्रिय-बोध की अपेक्षा भाव और भावों की अपेक्षा विचार अधिक परिवर्तनशील हैं। युग बदलने पर जहाँ विचारों में अधिक परिवर्तन होता है, वहाँ इन्द्रियबोध और भावजगत् में अपेक्षाकृत स्थायित्व रहता है। यही कारण है कि युग बदल जाने पर भी उसका साहित्य हमें अच्छा लगता है। यही कारण इस बात का भी है कि पुराने साहित्य की सभी बातें समान रूप से अच्छी नहीं लगतीं। सबसे ज्यादा मतभेद खड़ा होता है, विचारों को लेकर, उसके बाद भावों को, और सबसे पीछे और सबसे कम इन्द्रियबोध को लेकर। हमारी साहित्यिक रुचि स्थिर न होकर विकासमान है; पुराना साहित्य अच्छा लगता है लेकिन उसी तरह नहीं जैसे पुराने लोगों को अच्छा लगा था। इसलिए मनुष्य अपनी नयी रुचि के अनुसार नये साहित्य का भी सृजन करता है।

सामाजिक विकास-क्रम में सम्पत्तिशाली वर्गों ने एक समय अनिवार्य भूमिका पूरी की है, फिर विकास-पथ में बाधा बन गये हैं। दो विभिन्न युगों में अपने अभ्युदय और ह्रास की विभिन्न परिस्थितियों में एक ही वर्ग दो तरह के साहित्य का पोषण करता है। यूरोप का वही पूँजीपति वर्ग जो कभी तर्कसंगत ज्ञान, व्यक्ति की स्वाधीनता और नयी सौन्दर्य-वृत्ति के लिए लड़ा था, आज इनका शत्रु हो गया है, अपनी ही सांस्कृतिक विरासत को मिटाने पर तुला हुआ है। विश्व में यह पूँजीवाद का ह्रासकाल है और श्रमिक जनता का अभ्युदय काल। इस कारण आज श्रमिक वर्ग मनुष्य की तमाम सांस्कृतिक निधि की रक्षा करना चाहता है, पूँजीपति वर्ग द्वारा निर्मित सांस्कृतिक मूल्यों का रक्षक भी वही है जब कि शासक वर्ग, आसन्न मृत्यु से आतंकित होकर, भय, निराशा, पराजय, मानव-द्रोह और हिंसा की वृत्तियों का ही पोषक बनता जा रहा है। इसी कारण सचेत लेखक

१. काव्य में अभिव्यंजनावाद।

सामाजिक विकास की समस्याओं के प्रति उदासीन होकर शान्ति, स्वाधीनता, जनतन्त्र और जातीय संस्कृतिक के लिए संघर्ष करते हैं। आज के युग की परिधि में वे अब तक के संचित मानव मूल्यों की रक्षा करते हैं; इसी मार्ग पर चलकर वे इन मूल्यों को और भी समृद्ध करके अगले युगों को एक महान विरासत के रूप में छोड़ जायँगे।



# २ | मार्क्सवाद और प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन

समाज को समझने और बदलने तथा शोषणहीन समाज-व्यवस्था का निर्माण करने के विज्ञान का नाम 'मार्क्सवाद' है। यह व्यवस्था हवा में नहीं बनती; प्राचीन व्यवस्था के उपकरणों का महत्वपूर्ण योग भी उसमें होता है। इन पुराने उपकरणों को बनाने में विभिन्न वर्गों का योग हो सकता है; यह आवश्यक नहीं कि शोषक-वर्ग ने जिन नैतिक अथवा कलात्मक मूल्यों का निर्माण किया है, वे सभी शोषणमुक्त वर्ग के लिए अनुपयोगी हों। उदाहरण के लिए समाजवादी व्यवस्था में प्रत्येक मनुष्य को अपने श्रम के अनुसार—न कि अपनी आवश्यकता के अनुसार—पारिश्रमिक मिलता है। मार्क्स और लेनिन ने इसे पूँजीवादी नियम बताया है। ऐतिहासिक अनिवार्यता के कारण शोषण मुक्त मानव भी इस पूँजीवादी नियम से अपना पीछा नहीं छुड़ा पाता। यदि आर्थिक क्षेत्र में पूँजीवादी नियम को तुरत ठुकराया नहीं जा सकता तो साहित्य और कला के क्षेत्र में तो और भी सँभलकर कदम रखना आवश्यक होता है।

प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन में हमें मार्क्सवाद से यह सहायता मिलती है कि हम उसकी विषयवस्तु और कलात्मक सौन्दर्य को ऐतिहासिक दृष्टि से देखकर उनका उचित मूल्यांकन कर सकते हैं। हम उन तत्त्वों को पहचान सकते हैं जो प्राचीन काल के लिए उपयोगी थे, किन्तु आज उपयोगी नहीं रह गए। हम उन तत्त्वों को परख सकते हैं जो उस प्राचीन युग के लिए भी उपयोगी नहीं थे, या उपयोगी थे तो कुछ सम्पत्तिशाली लोगों के लिए ही थे और जिन्हें उस काल की ऐतिहासिक सीमाएँ देखते हुए भी प्रतिक्रियावादी कहा जायगा। हम विभिन्न मूल्यों के निर्माण में विभिन्न वर्गों की भूमिका देखते हैं, यह देखते हैं कि किसी युग विशेष में किसी वर्ग-विशेष की भूमिका प्रगतिशील थी या प्रतिक्रियावादी, और उसके अनुरूप उस वर्ग द्वारा निर्मित मूल्य जनता के लिए उपयोगी थे अथवा हानिकर। विभिन्न वर्ग एक ही समाज-व्यवस्था में रहने के कारण एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं; उनकी वर्ग-संस्कृति को परखते हुए इस परस्पर प्रभाव को

भी देखना होता है।

मार्क्सवाद के अनुसार समाज तथा संस्कृति का विकास सीधी रेखा पर, समतल भूमि पर, अबाध रूप से एक ही दिशा में नहीं होता। विकास के साथ पीछे हटने का क्रम भी देखा जाता है, सीधी रेखा और समतल भूमि के बदले असंगतियों से होकर, विरोधी तत्त्वों की एकता की विषम भूमि पर भी यह विकास होता है। उदाहरण के लिए मनुष्य ने जब वन्य-जीवन छोड़कर नागरिक जीवन बिताना आरम्भ किया तब अनेक नये मूल्यों की प्राप्ति के साथ उसने अनेक महत्त्वपूर्ण पुराने मूल्यों को भी छोड़ दिया। इस सत्य को एंगेल्स ने 'व्यक्तिगत सम्पत्ति और राज्य-सत्ता का उद्भव' नाम की पुस्तक में स्पष्ट कर दिया है। मार्क्स और एंगेल्स साहित्य के उत्कट प्रेमी थे। शेक्सपियर और बाल्ज़ाक की रचनाओं से उन्हें विशेष रुचि थी। बाल्ज़ाक की विचारधारा प्रतिक्रियावादी थी, फिर भी १९वीं सदी के पूर्वार्द्ध में वह यूरोप का सबसे बड़ा उपन्यासकार था। उसने शासक-वर्ग और सम्पत्तिशाली जनों का व्यंगपूर्ण चित्रण किया और वह विषयवस्तु दी जो उसकी विचारधारा के विरुद्ध पड़ती थी। इस तरह मार्क्स ने साहित्यकारों के अन्तर्विरोधों को समझना सिखाया। उसी पद्धति से लेनिन ने तॉल्स्ताय के विचारों को निष्क्रियता और अन्धविश्वासों को प्रश्रय देने वाला कहते हुए उनके साहित्य को प्राचीन न्याय-व्यवस्था और अनेक रूढ़ियों की सबसे तीखी आलोचना बताया।

साहित्य बुद्धिविरोधी सृष्टि नहीं है किन्तु उसका सम्बन्ध बुद्धि से ही नहीं है। वह मनुष्य के सचेत चिन्तन का ही परिणाम नहीं है; उसका गहरा सम्बन्ध मनुष्य के उपचेतन संस्कारों से भी होता है। व्यवहार-क्षेत्र में मार्क्सवाद संस्कारों पर बहुत अधिक बल देता है। जो अभिजात-वर्ग में उत्पन्न हुए हैं और उस वर्ग के संस्कारों में पले हैं, उनके लिए मार्क्सवाद की बौद्धिक स्वीकृति काफ़ी नहीं है, उन्हें अपने को आमूल परिवर्तित करना आवश्यक होता है जो एक अत्यन्त कठिन प्रक्रिया है। मार्क्सवादी राजनीतिज्ञों के लेखों में इसी कारण जनता से एकात्म होने, सर्वहारा दर्शन के साथ सर्वहारा मनोबल को अपनाने पर जोर दिया जाता है। मनुष्य के ये संस्कार सदा उसके सचेत चिन्तन से टकरायें, यह आवश्यक नहीं। दोनों में अन्तर्विरोध के बदले परस्पर सहयोग भी हो सकता है। साथ ही दोनों में टक्कर होने पर यह आवश्यक हो जाता है कि लेखक के स्वीकृत विचारों को ही न परखकर हम उसके संस्कार के आधारों पर निर्मित साहित्य का मूल्यांकन भी करें।

इस प्रकार समाज और साहित्य का सम्बन्ध प्राचीन मूल्यों और नये मूल्यों का सम्बन्ध सीधा और सरल न होकर संश्लिष्ट और पेचीदा होता है। इस सत्य के विपरीत मार्क्सवाद के सम्बन्ध में आम धारणा यह है : प्राचीन साहित्य

शोषक वर्गों के हित में उनके चक्करों द्वारा रचा हुआ है, इसलिए त्याज्य है; साहित्य-समाज का दर्पण है, इसलिए पुरानी व्यवस्था बदल जाने पर वह दर्पण भी बेकार हो जायगा; सर्वहारा वर्ग के लेखक नया साहित्य रचेंगे जिसमें पुराने मूल्यों का अभाव होगा; इन लेखकों की दृष्टि में यह साहित्य कलात्मक सौन्दर्य में भी प्राचीन साहित्य से आगे होगा।

इस तरह की धारणा मार्क्सवाद से अनभिज्ञ कुछ साधारण साहित्य-प्रेमियों ही में नहीं मिलती, उसके दर्शन मार्क्सवाद के अनेक पण्डितों में भी होती है। इनकी आलोचना-शैली की एक विशेषता है। वे किसी विशेष विचार-धारा के समर्थन या विरोध मे बहुत-से उद्धरण बटोर लेंगे; फिर उनके आधार पर वे किसी साहित्यकार को प्रगतिशील या प्रतिक्रियावादी घोषित कर देंगे। उदाहरण के लिए महाकवि सुमित्रानन्दन पन्त ने सन् १९३८ के लगभग छायावाद के आकाश से प्रगतिवाद की धरती पर उतरने की घोषणा की। यद्यपि वह स्वयं मार्क्सवाद और गांधीवाद के समन्वय की बात करते थे, फिर भी उनके समर्थकों ने उन्हें मार्क्सवादी लेखक के रूप में ही पेश किया। इसके सिवा मार्क्सवादी या समन्वय-वादी होने के साथ पन्तजी कवि भी बने हुए हैं कि नहीं, इसको ओर 'पन्त प्रगति के पथ पर' के लेखकों ने ध्यान नहीं दिया। कविता न तो विचार-शून्य होती है, न वह विचारधारा-मात्र होती है। विचार में भाव के पंख लगने चाहिए और भावों के साथ इन्द्रियबोध को तरलता होनी चाहिए। भाव-विह्वलता और इन्द्रियबोध के परिष्कार के बिना कविता क्या? इनके अभाव में हमारे मित्रों ने पन्तजी की विचारधारा से—जो अपने में बहुत उलझी हुई भी थी—उद्धरण देकर उन्हें प्रगतिपथगामी सिद्ध कर दिया। छायावाद की उपलब्धियाँ उनके लिए नगण्य थीं, इसलिए कि उनमें पन्तजी की-सी विचारधारा का अभाव था। छाया-वाद ने 'कामायनी', 'राम की शक्ति-पूजा', 'तुलसीदास', 'गीतिका', 'दीपशिखा', 'पल्लव'— हाँ, 'पल्लव' भी—के रूप में भारतीय जनता के भावों, विचारों और सौन्दर्य-बोध को कितना परिष्कृत किया है, इसका लेखा-जोखा इन मित्रों के यहाँ नहीं था। प्रगतिवाद का शिलान्यास करते हुए श्री शिवदानसिंह चौहान ने इस सम्बन्ध में 'विशाल भारत' में लिखा था, "इस छायावाद की धारा ने हिन्दी के साहित्य को जितना धक्का पहुँचाया है, उतना शायद ही हिन्दू महासभा या मुस्लिम लीग ने पहुँचाया हो।" इस तरह के—या सारतत्त्व यही किन्तु कोमल शैली में लिखे हुए—वाक्य पढ़कर यदि पाठक यह धारणा बनाएँ कि मार्क्सवाद हमारी संस्कृति का शत्रु है तो इसमें आश्चर्य क्या?

वर्ग और सम्पत्ति से संस्कृति का सम्बन्ध जोड़ने के अनूठे उदाहरण हमें महापण्डित राहुल सांकृत्यायन की रचनाओं में मिलते हैं। उन्हें वेदों में ओजपूर्ण काव्य नहीं मिलता, उन्हें वहाँ वर्णाश्रम-धर्म की प्रतिष्ठा, आर्य-अनार्य रक्त का

सम्मिश्रण और समाज की सम्पदा उड़ाने वाले ऋषि मिलते हैं। राहुल जी वैदिक ऋषियों का उल्लेख सम्मान के साथ तभी करते हैं, जब उन्हें निषिद्ध मांस-भक्षण का समर्थन करना होता है। इस आवश्यकता के न होने पर उनकी शैली कुछ इस प्रकार की होती है—"जिन ग्रन्थों में अछूतपन की बात भरी पड़ी है और जिन ऋषि-मुनियों ने अपने आश्रमों के आस-पास मनुष्य नामधारी दास-दासियों के ऊपर सहस्राब्दियों तक अमानुषिक अत्याचार होते देखकर भी अपनी तपस्या भंग न की, उनके ग्रन्थ अछूतोद्धार के बाधक छोड़ साधक कैसे हो सकते हैं ?"[1]

वेदों तथा अन्य प्राचीन ग्रंथों में वर्ण-व्यवस्था की प्रतिष्ठा किस सीमा तक है, उस युग में इस तरह की व्यवस्था आवश्यक थी या अनावश्यक, वर्ण-व्यवस्था के अलावा उनमें और कौन-सी मूल्यवान सामग्री है, राहुल जी इसका विश्लेषण आवश्यक नहीं समझते। वाल्मीकि और कालिदास भी राजाओं की प्रशस्तियाँ गाने वाले कवि थे। एक ही ढेले से दोनों महाकवियों का शिकार करते हुए महापण्डित ने 'सुपर्णयौधेय' में लिखा, "कोई ताज्जुब नहीं, यदि वाल्मीकि शुंगवंश के आश्रित कवि रहे हों, जैसे कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के। और शुंगवंश की राजधानी की महिमा बढ़ाने ही के लिए उन्होंने जातकों के दशरथ की राजधानी वाराणसी से बदलकर साकेत या अयोध्या कर दी और राम के रूप में शुंग सम्राट् पुष्यमित्र या अग्निमित्र की प्रशंसा की वैसे ही जैसे कालिदास ने 'रघुवंश' के रघु और 'कुमारसम्भव' के कुमार के नाम से पिता-पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और कुमार गुप्त की।"

इसी न्याय से तुलसीदास का भाग्य-निर्णय करते हुए श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त ने किसी समय लिखा था, "हम देखेंगे कि वाल्मीकि, कालिदास और तुलसी ने रघु-कुल की प्रशस्तियाँ गाईं और राज्य-सत्ता को भारी सहारा दिया।" तुलसी के साथ सूर को भी जोड़कर उन्होंने चुने हुए उपमानों से अपने वाक्य का कलात्मक सौंदर्य बढ़ाते हुए अन्यत्र लिखा था, "हम तुलसी और सूर के सामाजिक विचार-दर्शन (विचार-दर्शन का जो भी अर्थ हो!) को आज नहीं अपना सकते; उसे इतिहास ने 'मैमथ' और 'डोडो' के समान अजायबघर की वस्तु बना दिया है। किन्तु जनता के प्रति उनका प्रेम, उससे निकटतम उनका सम्बन्ध उनके काव्य का जन-सुलभ रूप आदि अनेक तत्त्व हमारे लिए आज भी अमूल्य हैं।" यह भी गनीमत है कि सूर-तुलसी में कम-से-कम जनता से प्रेम का अमूल्य तत्त्व गुप्त जी को मिला। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपनी धारणाओं को काफी बदला है, यह उल्लेखनीय है।

किन्तु अन्य 'मार्क्सवादी' लेखकों को तुलसीदास में जनता से प्रेम की जगह

---

१. 'दिमागी गुलामी', : पृ० १५

सवर्ण हिन्दुओं में भी ब्राह्मणों से विशेष प्रेम दिखाई देता है। यशपाल जी ने मार्क्सवाद पर पुस्तक लिखी है और तुलसीदास की विचारधारा का विश्लेषण भी किया है। कबीर से तुलसी की भिन्नता दिखलाते हुए उन्होंने लिखा है, "तुलसी का भक्ति-मार्ग केवल सवर्ण हिन्दू जनता की सांस्कृतिक एकता का प्रतिपादन करता है।"[1]

'रामचरितमानस' का मूल तत्त्व क्या है ? यशपाल जी का कहना है, "वर्ण-व्यवस्था के समर्थन, ब्राह्मण की श्रेष्ठता और स्वामी-वर्ग के अधिकारों के समर्थन को जो स्थान 'रामचरितमानस' में दिया गया है, वही उसका मुख्य अंग है।" इस तरह की गम्भीर व्याख्या यशपालजी से पहले डॉ० रांगेय राघव कर चुके थे। "तत्कालीन उच्च वर्ग ने प्रारम्भ में जो तुलसी का विरोध किया, वह ग़लती उन्होंने जल्दी महसूस की। राम-नाम के प्रताप से जूठन बीनकर खानेवाला तुलसीदास अपने जीवन-काल में ही उन्हीं उच्च वर्गों के कन्धों पर डोलने लगा, हाथी पर चढ़ने लगा।"[2]

अब कठिनाई यह है कि उस समय तो तुलसी उच्च वर्गों के कन्धों पर डोलने लगा, लेकिन आज वह भारतीय जनता—विशेषकर हिन्दी-भाषी जनता—के हृदय पर आसन जमाये हुए है। उसे हटाये बिना हमारे मित्र जो नया साहित्य रच रहे हैं, उसकी प्रतिष्ठा कैसे हो ? खोट दरअसल जनता में है, इसीलिए तुलसी को जनता के हृदय-सिंहासन से हटाने के लिए हमारे मित्र भगीरथ प्रयत्न कर रहे हैं। इस जनता का पहला कसूर यह है : "देश की सर्व-साधारण जनता ने 'राम-चरितमानस' को काव्य की अपेक्षा शास्त्र के रूप में अधिक मान्यता दी है।" और आलोचक क्या करते हैं ? वे भी 'रामचरित मानस' को शास्त्र समझकर उससे अनेक दोहे-चौपाइयाँ उद्धृत करके उसे ब्राह्मण-धर्म का समर्थक-शास्त्र सिद्ध करते हैं। उनके मन में अनेक प्रश्न उठते हैं; उठते ही नहीं हैं, "हमारे मन और मस्तिष्क में उपस्थित प्रश्न सिर उठाए बिना नहीं रह सकते।" अतः 'रामचरित-मानस' को शास्त्र मानकर उन्हें उसका विवेचन करना ही पड़ता है, यद्यपि इसकी ज़िम्मेदारी आलोचकों पर नहीं जनता पर है। जनता भी क्या करे ? इतिहास ने उसे अशिक्षित और अन्ध-विश्वासी बना दिया है। ऐतिहासिक प्रक्रिया के बारे में यशपाल जी कहते हैं, "रामचरितमानस एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के कारण शिक्षा की प्रगति से विहीन सर्वसाधारण की एकमात्र कला-निधि और नैतिक शास्त्र बन गया।" यह कलानिधि सवर्ण हिन्दुओं के पल्ले ही पड़ी; 'सर्वसाधारण'

---

१. 'नया पथ', १८५७ के स्वातन्त्र्य-संग्राम की पुण्य स्मृति में, जुलाई-अगस्त, १९५७।

२. 'आलोचना', ५।

के 'सर्व' में असवर्ण हिन्दुओं— मुसलमानों की तो बात ही क्या ?—का कोई हिस्सा नहीं है।

इस ऐतिहासिक प्रक्रिया के साथ, जनता को शोषकों के दास बनाये रखने में, तुलसीदास की कला किस प्रकार सहायक हुई, इस पर ध्यान देकर जनता को क्षमा कर देना चाहिए। आधुनिक आलोचना में यशपाल जी का यह वाक्य स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य है : "यहाँ हमें तुलसी के कलात्मक सामर्थ्य को स्वीकार करना पड़ता है कि 'रामचरितमानस' आज भी जनता की बहुत बड़ी संख्या को अधिकार-वंचित करके भी उन्हें सीता की तरह लक्ष्मण की लकीर से बाँधे हैं कि 'मानस' की सीमाओं से परे सम्पूर्ण ज्ञान रावण का प्रभाव है।"

सीता को लक्ष्मण की खींची लकीर से बाहर निकालने में यशपाल जी अकेले नहीं हैं। उनके साथ भदन्त आनन्द कौसल्यायन भी हैं। भदन्तजी मार्क्सवादी नहीं, बौद्ध भिक्षु हैं, किन्तु ऊपर कही हुई संस्कारों की बात याद कीजिए। अपने उपचेतन संस्कारों के बल पर वे सहज प्रगतिशील हैं और 'रामचरितमानस' का विश्लेषण करते हुए उसी भूमि पर पहुँचे हैं जहाँ यशपाल जी अपने सचेत चिन्तन से डटे हैं। उन्होंने तुलसीदास को ब्राह्मणवाद का समर्थक सिद्ध करने के लिए 'नया पथ' में 'रामचरितमानस' से अनुकूल पंक्तियों का एक संकलन प्रकाशित किया था। इस उद्धरणमाला से जो निष्कर्ष निकला, वह यह कि तुलसीदास के इस ग्रन्थ में राम से अधिक ब्राह्मणों का महत्त्व घोषित किया गया है! यशपालजी भदन्तजी के सहज ज्ञान का हवाला देते हुए कहते हैं, "भदन्त आनन्द कौसल्यायन का यह कहना कि 'रामचरितमानस' में राम की अपेक्षा ब्राह्मण का ही महत्त्व अधिक है, न अत्युक्ति है, न अतिरंजना।" इसका कारण यह भी है कि विपक्ष में जो उद्धरण दिये गए हैं, उनकी तुलना में भदन्तजी के उद्धरण "संख्या में कहीं अधिक, सुस्पष्ट, सन्दर्भ के अनुकूल और निर्विवाद हैं।" ऐसा लगता है कि उद्धरणों की संख्या देखकर यशपालजी इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने 'रामचरितमानस' पढ़ना भी आवश्यक नहीं समझा। कथा में उल्लिखित किसी भी परिस्थिति और किसी भी पात्र का विश्लेषण उन्होंने नहीं किया। 'रामचरितमानस' को शास्त्र समझकर भदन्तजी द्वारा बटोरे हुए उद्धरणों से ही उन्होंने सन्तोष कर लिया।

एक चरित्र और एक घटना का हवाला यशपालजी ने अवश्य दिया है। वह चरित्र है शंबूक का, और घटना है राम द्वारा उसके वध की। मेरे एक निबंध में यह पढ़कर कि तुलसीदास की भक्ति वर्ण, जाति, धर्म आदि के कारण किसी का बहिष्कार नहीं करती, यशपालजी ने किंचित् रोष के साथ लिखा है, "ऐसी अनर्गल बात कहते समय वे राम द्वारा मुक्तिकामी शंबूक के वध की बात भूल गए।" शंबूक की घटना उन्हें विशेष प्रिय है; इससे अधिक तुलसी के अन्धे-ब्राह्मण-प्रेम का उदाहरण और क्या होगा ? इसलिए तुलसी के साथ उनके अकिंचन

भक्त का भी उद्धार करते हुए उन्होंने पुनः लिखा, "वे यह भूल गए कि तुलसी के मत में शूद्र का वेद पढने और ब्राह्मण से समता करने की इच्छा और नारी की स्वतन्त्रता पाप और कलयुग के प्रभाव का मुख्य लक्षण था, जिसके निवारण के लिए भगवान् को खड्ग हाथ मे लेना पडा था।" नारी की स्वतन्त्रता के सिल-सिले मे यशपालजी को यह और जोड़ देना चाहिए कि धोबी की बात सुनकर राम ने पराधीन सीता को वनवास दे दिया था। या शायद धोबी की बात सुनकर सीता को निकालना राम का प्रगतिशील कार्य ठहरता, इसलिए यशपाल जी ने उसका हवाला नहीं दिया।

किसी की रचना पढ़े बिना, सुनी-सुनाई बातो के आधार पर या कल्पना के बल पर आलोचना लिख देना कोई अद्भुत काम नहीं है। किन्तु 'नया पथ'-जैसे पत्र के सम्पादकीय स्तम्भ में 'ऐतिहासिक दृष्टि से तुलसी का मूल्यांकन' के नाम पर उपर्युक्त कोटि के तर्क अवश्य अद्भुत हैं। यह बात नहीं है कि यशपालजी तुलसी का महत्त्व अस्वीकार करते हों। उनकी दृष्टि में विश्व-साहित्य के सौर-जगत् मे तुलसी एक विराट् नक्षत्र हैं। उनके चिरन्तन मूल्य कला-पक्ष की रसा-नुभूतियों मे हैं। रस भी देखिये कितने हैं: "शैशव, वात्सल्य, सहज-शृंगार, प्रेम, शोक, सहानुभूति, रौद्र आदि रसों का जैसा परिपाक उन्होंने किया है, वह अपने में अनूठा है।" परिपाक से निकलने वाले मूल्य तो चिरन्तन हुए; कुछ अचिरन्तन मूल्य नैतिक भी हैं। तुलसी ने सवर्ण हिन्दुओं की एकता के लिए जो प्रयत्न किया उसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। वह काम भी महत्त्वपूर्ण था। यशपालजी का कहना है कि "उन्होंने राम-भक्ति द्वारा हिन्दू-संस्कृति की बहु-देव-पूजा का समु-च्चय कर हिन्दू जातीय एकता द्वारा और वेद-विहित वर्णाश्रम धर्म की संस्कृति की रक्षा में सहायता कर बहुत बड़ा काम किया।" दूसरा काम उन्होंने यह किया कि "उनके भक्ति-मार्ग ने हिन्दू सामन्तशाही को मुस्लिम शामन्तशाही से लोहा लेने में सहायता दी।" ऐतिहासिक दृष्टि से तुलसी का मूल्यांकन करने पर तीन तथ्य निकले: तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' लिखकर वर्ण-व्यवस्था को दृढ़ किया, इस्लाम से हिन्दू धर्म की रक्षा की और कला-पक्ष मे शैशव-सहानुभूति आदि रसों का परिपाक किया। इनमे पहले दो तथ्यों को रूढ़िवादी आलोचक ऐतिहासिक दृष्टि के बिना भी बहुत दिनों से मान रहे थे; यशपालजी ने इजाफ़ा किया है रस-परिपाक के मौलिक चिन्तन में।

तुलसीदास की विचारधारा को समझने के लिए 'रामचरितमानस' के साथ उनके अन्य ग्रन्थों का भी तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए। 'रामचरितमानस' में वर्णाश्रम-धर्म या अन्य किसी प्रश्न पर उद्धरण एकत्र करने के साथ मूल कथा की परिस्थितियों और पात्रों का भी अध्ययन करना चाहिए। 'रामचरितमानस' बहुत ही लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है, इसलिए उसमें प्रक्षिप्त अंशों की सम्भावना मान-

कर सतर्क रहना चाहिए। यदि तुलसीदास वर्ण-व्यवस्था के ऐसे प्रबल पक्षपाती थे तो वे 'ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौं।' कहकर अपनी सफ़ाई क्यों देते हैं? निश्चय ही उनकी जाति और जन्म को लेकर विप्र-वर्ग उन्हें छेड़ता था जिससे क्षुब्ध होकर उन्हें 'धूत कहौ अवधूत कहौ, राजपूत कहौ, जुलहा कहौ कोऊ' आदि लिखना पड़ा था। यदि वे हिन्दू सामन्त-वर्ग के ऐसे कृपाभाजन थे तो उन्होंने यह क्यों लिखा था : "माँगि कै खैबो मसीत को सोइबो लेबे को एक न देबे को दोऊ"। मस्जिद में सोकर तुलसीदास मुस्लिम सामन्तशाही के विरुद्ध हिन्दू सामन्तशाही को कैसे दृढ़ कर रहे थे? उनके राम यदि ब्राह्मणों के लिए सुरक्षित थे तो वह शबरी के जूठे बेर क्यों खाते थे, निषाद को क्यों गले लगाते थे, उसे भरत के समान क्यों कहते थे, वानरों को अपना सखा क्यों मानते थे? यही नहीं राम ने अजामिल-जैसे अधमों को भी तार दिया था और तुलसीदास ने व्यंग्य करते हुए कहा था, "कौन धौं सोमजागी अजामिल अधम कौन गजराज धौं बाजपेई।" यदि तुलसीदास स्त्रियों को अपावन समझते थे तो जनकपुर में, अयोध्या में, वन में, सब कहीं राम के सबसे निकट इस नारी-समुदाय को क्यों खींच लाते हैं? राम को देखने के लिए स्त्रियाँ आती हैं, यह उनकी स्वाधीनता की पराकाष्ठा नहीं है किन्तु इससे उनके प्रेम की उत्कटता, जो सामाजिक नियमों की अवहेलना भी कर देती है, और उनके प्रति तुलसी की सहानुभूति अवश्य प्रकट होती है। यशपालजी इस विषय में कहते हैं : "ऐसी अवस्था में हम इस देश के ग्राम-ग्राम की दीन-से-दीन स्त्रियों को भी भालू और बन्दर का नाच देखने के लिए भी अपने द्वार पर आ जाता देखकर क्यों न समझ लें कि अब इस देश में नारी-स्वतन्त्रता के आन्दोलन की आवश्यकता नहीं रही।"

तुलसी की नैतिकता को गई-गुजरी बताने वाले यशपाल जी स्वयं किस नैतिकता के स्तर पर आलोचना लिखते हैं, उपर्युक्त उद्धरण उसकी ओर संकेत करता है। विश्व-साहित्य के सौर-जगत् में तुलसी विराट् नक्षत्र हैं, यह शब्दावली दिखाने के लिए है। वास्तविक भावना यह है कि ग्रामवधुओं को राम को देखने आना भालू और बन्दर का नाच देखने के समान है। यह सब ऐतिहासिक दृष्टि के नाम पर!

तुलसी को हम यदि मानवतावादी कहें, उन्हें आज भी अपने सांस्कृतिक विकास के लिए आवश्यक मानें, उन्हें अपने लिए प्रेरणादायक कहें तो हमारे मित्र क्रुद्ध होकर कहते हैं, कि हम तुलसीदास को आज के दृष्टिकोण से प्रगतिवादी सिद्ध करते हैं। तुलसीदास का सामाजिक दृष्टिकोण ऐसा था या होना चाहिए था कि वे समाज से वर्ग-शोषण मिटाकर साम्यवादी समाज की स्थापना के लिए प्रेरणा देते, यह दावा कोई नहीं करता। यह दावा अवश्य है कि तुलसीदास सामन्त-वर्ग के चाकर नहीं थे, उन्हें धनी वर्ग ने हाथी पर नहीं चढ़ाया, उनकी भक्ति विप्रवर्ग के लिए ही नहीं थी, उनके दीनदयाल सभी वर्णों के दीनों के लिए दयालु थे, तुलसी ने अपने राम

में भारतीय जनता के धैर्य, शूरता, सहानुभूति, सात्विक क्रोध आदि गुणों का चित्रण किया है, इन्होंने 'रामचरितमानस' तथा 'कवितावली' में ग्रामीण जीवन और लोक-संस्कृति के अनुपम चित्र दिये हैं, तुलसीदास मानवीय करुणा और सहानुभूति के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं, उन्होंने नारी को 'देश-द्रोही' या 'मनुष्य के रूप' की नायिकाओं के रूप में नहीं देखा, किन्तु उसकी पराधीनता के प्रति वे अचेत नहीं हैं और उसके भाग्य से उन्हें गहरी सहानुभूति है, वह सामन्ती समाज में जनता का उत्पीड़न देख चुके थे, स्वयं सह चुके थे, उनके आत्म-निवेदन की करुणा का मुख्य स्रोत यही सामाजिक उत्पीड़न है, इसलिए वह जनता के दुख-दर्द के भागीदार हैं, तभी मध्यकालीन निष्क्रियता में उन्होंने धनुर्धारी राम से रावण का नाश कराया और हमें अन्याय का सक्रिय प्रतिरोध करना सिखाया—इन मानवतावादी मूल्यों का दावा हम तुलसीदास में अवश्य करते हैं। यशपालजी का वास्तविक क्षोभ है तुलसीदास को मानवीय करुणा और मानवीय सहानुभूति का कवि सिद्ध करने पर। इसीलिए उन्होंने लिखा है : "यह कहना भी ठीक नहीं है कि तुलसी भक्ति-मार्ग के कवि होने के कारण अपनी सामयिक ऐतिहासिक परिस्थितियों में मानववादी और प्रगतिवादी थे।" असली बात यह है कि उस समय की परिस्थितियों में भी यशपालजी तुलसी को मानवतावादी नहीं मानते। इसीलिए इन्हें रूढ़ियों और अत्याचार के विरुद्ध "मानव-मात्र की समता की पुकार जिसे रामानुज, कबीर, नामदेव और नानक ने उठाया वह 'रामचरितमानस' में दिखाई नहीं पड़ती।" यही नहीं, तुलसीदास अपने समय के मानववाद के विरोधी भी थे, क्योंकि यशपालजी के अनुसार "रामचरितमानस में मानवता की उस पुकार को कलियुग का पाप और प्रभाव कहकर उसके विरोध के लिए भगवान् की अवतारणा बताई गई है।" इसलिए तुलसीदास में, मध्यकालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, मानवतावाद खोजना "अपने जन्म-जात जातिगत अधिकारों और प्रतिष्ठा का लोभ और अन्ध-अभिमान ही समझा जा सकता है", इसलिए तुलसीदास की नैतिकता "जन्म से जातिगत मिथ्या अहंकार की प्रेरणा अवश्य देती है जो शर्मा-वर्ग को संतोष दे सकते हैं।" तुलसीदास के मानववाद और उनकी नैतिकता से यशपाल को इतनी चिढ़ है कि वह उसके समर्थन को एक साधारण साहित्यिक कार्य मान ही नहीं सकते, उसमें उन्हें जातिगत अधिकार, प्रतिष्ठा का लोभ, मिथ्या अहंकार सब-कुछ दिखाई देता है। जब तुलसीदास ही मानववाद के विरोधी हैं, तब उनके भक्त प्रतिष्ठा-लोलुप और अहंकारी हों तो आश्चर्य क्या! इस तरह के कृपा-कटाक्ष यशपालजी की ऐतिहासिक दृष्टि की विशेषता है।

तुलसी की नैतिकता का सही मूल्यांकन तभी सम्भव है जब हमारी आज की अपनी नैतिकता दुरुस्त हो। यशपालजी तुलसी की रूढ़िवादी नैतिकता के बदले किस नैतिकता की स्थापना करना चाहते हैं? नारी की स्वाधीनता के बारे में वह

लेनिन का हवाला देकर लिखते हैं, "स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध शरीर की दूसरी आवश्यकताओं भूख, प्यास, नींद की तरह ही आवश्यक है। इसमें मनुष्य को स्वतन्त्रता होनी चाहिए परन्तु प्यास लगने पर शहर की गन्दी नाली में मुँह डालकर पानी पीना उचित नही। उचित है, स्वच्छ गिलास में स्वच्छ जल पीना।" यशपालजी ने स्वच्छ जल पीने का सिद्धान्त लेनिन में वैसे ही ढूँढ़ निकाला जैसे 'रामचरितमानस' मे शबूक-वध लेनिन ने क्लारा जेटकिन से अपनी बातचीत में इस स्वच्छ जल के सिद्धान्त को 'पूँजीवादी चकलों का प्रसार' कहा था। उनका विचार था कि "यह पानी के गिलास का सिद्धान्त पूरी तरह गैर मार्क्सवादी है और इसके अलावा समाज-विरोधी भी है।" इसे समाज-विरोधी कहने का कारण, लेनिन के अनुसार, यह था : "पानी पीना बेशक किसी का निजी काम है। लेकिन प्रेम में दो जिन्दगियो का सम्बन्ध होता है और एक तीसरी नई जिन्दगी पैदा होती है। इससे उनमें सामाजिकता का सवाल उठता है जिससे समाज के प्रति कर्तव्य पैदा होता है। एक कम्युनिस्ट की हैसियत से मुझे पानी के गिलास के सिद्धान्त से जरा भी सहानुभूति नहीं है यद्यपि उस पर प्रेम की तृप्ति का सुन्दर लेबिल लगा हुआ है। कुछ भी हो, पर प्रेम की मुक्ति न तो नई है, न कम्युनिस्ट है।"

इससे स्पष्ट है कि यशपालजी ऐतिहासिक दृष्टि पर मार्क्सवाद का लेबिल तो लगा हुआ है, किन्तु उसका मार्क्सवाद से कोई सम्बन्ध नही है। यशपालजी के 'चक्कर क्लब' का एक पात्र कहता है, "किसी की तृप्ति कवि रवीन्द्र की कविता में कामिनी को समीप बैठाकर हो जाती है तो किसी की साहित्यिक तृप्ति अंगिया दबाने की चर्चा किये बिना नहीं होती। क्यों जी, सिर खुजाते हुए कॉमरेड की ओर देख उन्होंने पूछा—"क्या है वह गीत, 'न ताको जोबन सरकारी है, बचके रहो जी'।" नैतिकता के इस निम्न स्तर पर जीने वाले कलाकार तुलसी की नैतिकता से असन्तुष्ट न हों, तभी आश्चर्य होगा। अपनी रक्षा के लिए उन्होंने मार्क्सवाद का दुपट्टा जरूर गले में डाल लिया है। 'पार्टी कामरेड' की हीरोइन का नख-शिख वर्णन करते हुए यशपाल जी कहते हैं, "माथे पर त्यौरी चढ़ा देखती तो ऐसा लगता नजर सीने मे गड़ा देगी।" 'रामचरितमानस' की आलोचना में अछूतों के प्रति अपार सहानुभूति प्रकट करने के बाद यशपालजी को इतना अवकाश नहीं मिला कि अपने किसी उपन्यास में वे प्रेमचन्द की तरह अछूतों का चित्रण करते। अछूतोद्धार की सारी माँगें तुलसीदास से ही हैं। 'मनुष्य के रूप' में मनोरमा अपने पति को तलाक देकर कम्युनिस्ट पार्टी के दफ्तर में आती है, तब "बहुत से कॉमरेड अपनी-अपनी जगह छोड़ संकोच से सिमटी जाती मनोरमा को घेरकर खड़े हो गए। उमेश ने गर्दन ऊँची कर बहुत जोर से पुकारकर कहा—'तो फिर अब!' और प्रोत्साहन की मुद्रा से हृदय पर हाथ रख लिया। यारों ने उमेश को कंधे से धक्के देकर फटकारा—हट पागल! मंगल बोला—आखिर कोई तो आशा कर

सकता है ! ······न्यू बस हैज कम (नई गाड़ी चल रही है।)" यशपाल जी की रचनाओं से इस रस-विशेष के उद्धरण एकत्र किए जाएँ तो वे भदन्तजी की 'उद्धरणमाला' से भी संख्या में अधिक, सुस्पष्ट, सन्दर्भ के अनुकूल और निर्विवाद सिद्ध हों। बानगी के लिए यहाँ इतने ही काफी हैं।

इससे ऊपर कही हुई बात का समर्थन होता है। मार्क्सवाद किताबें पढ़ने से ही नहीं आता, किताबें भी न पढ़कर सुनी-सुनाई बातों के आधार पर लेनिन में स्वच्छ जल पीने का सिद्धान्त ढूँढ़ लेने से तो और भी नही आता। यशपालजी के अपने संस्कार इतने प्रबल हैं कि जो है, वह ओझल हो जाता है, और जो नही है, वह दिखाई देने लगता है। प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन करने से पहले अपनी नैतिकता का मूल्याकन, अपने दृष्टिकोण की परख आवश्यक है। मार्क्सवाद मानवता के कल्याण का दर्शन है। वह संस्कृति के मूल्यवान तत्त्वों का नाश नही करता, उन्हें सँजोकर रखता है। आज के पीड़ित जन यदि नये शोषणहीन समाज का स्वप्न देखते हैं, उसके लिए संघर्ष करते हैं, तो वह इसीलिए कि पुराने मानवतावादियों ने उन्हें उस मंजिल तक पहुँचा दिया है जहाँ से वे अगली मंजिल का सपना देखें। शोषणहीन समाज की स्थापना करने वाला मानववाद पुराने मानववाद से विच्छिन्न नहीं है, वह उसी की अगली कड़ी है। इसलिए उन पुराने मानववादियों का मूल्यांकन थोडी नम्रता के साथ करना चाहिए। जब हम उस मानववाद को आगे न बढ़ा रहे हो वरन् अपने संस्कारो के कारण अनैतिक उच्छृंखलता को प्रश्रय दे रहे हों, तब यह नम्रता और भी आवश्यक हो जाती है। जनता कितनी भी शिक्षा की प्रगति से विहीन हो, वह अपनी लोक-संस्कृति से और पिछले सौ साल के संघर्षों से अपनी अदम्य शक्ति का परिचय दे चुकी है। उसने जिस कवि को अपना हृदय-सम्राट् बनाया है, उसकी आलोचना जरा सोच-समझकर करनी चाहिए। और सबसे आवश्यक बात यह है कि पुस्तक की आलोचना करने से पहले उसे एक बार पढ़ लेना चाहिए। इस आवश्यक कार्य के बिना 'ऐतिहासिक दृष्टि' बहुत ही खतरनाक साबित होगी।

हिन्दी में मार्क्सवादी लेखकों को काम करते हुए लगभग बीस वर्ष हो गए। इस अवधि मे उन्हें जितनी सफलता मिल सकती थी और मिलनी चाहिए थी, उतनी नहीं मिली। सन् बीस से सन् चालीस तक के वर्षों को देखें तो उतने ही वर्षों में छायावादी कवियों तथा प्रेमचन्द और रामचन्द्र शुक्ल के हाथों हिन्दी-साहित्य का स्तर बदल गया था। उतने ही काल में मार्क्सवादी लेखको की उपलब्धियाँ क्या हैं ? ये उपलब्धियाँ नगण्य नहीं हैं, किन्तु उन बीस वर्षों के साहित्य की तुलना नगण्य ही हैं। इसका कारण क्या है ? मार्क्सवाद एक नया वैज्ञानिक दृष्टिकोण देता है; समाज की गतिविधि को समझने के साथ साहित्य के मूल्यांकन के लिए भी नई दृष्टि देता है। साथ ही जनता से प्रेम, जनता में भी सम्पत्तिहीन जनों से

गाढ़ी सहानुभूति और सहानुभूति के साथ उनका भाग्य बदलने का क्रान्तिकारी उत्साह देता है। इस तरह सहानुभूति और विचारधारा—दोनों ही में वह श्रेष्ठ है। किन्तु हमारे अनेक मार्क्सवादी लेखक सहानुभूति और विचारधारा—दोनों ही में पुराने साहित्यकारों से पिछड़े हुए हैं। उनका यह पिछड़ापन पुराने साहित्य के मूल्यांकन मे सबसे अधिक दिखाई देता है।

वाल्मीकि ने अपने महाकाव्य में प्रकृति और मानव-चरित्र का चित्रण अनुपम गहराई से किया है। उनके राम भारतीय साहित्य में सक्रिय प्रतिरोध के ज्वलन्त प्रतीक हैं। आचार्य शुक्ल ने तॉल्स्ताय पन्थ की निष्क्रियता की आलोचना करते हुए वाल्मीकि के राम को सक्रिय वीरों के प्रतीक-रूप में सामने रखा था। इस तरह उनका दृष्टिकोण उन 'मार्क्सवादी' लेखकों से कहीं अधिक वैज्ञानिक था, जो वाल्मीकि को शुङ्गवंश का चारण मानते हैं। कालिदास सामन्त-वर्ग के आश्रित कवि थे। शुक्लजी ने हिन्दी के रीतिकालीन कवियों की चर्चा में दिखलाया है कि इनमें अनेक सच्चे कवि थे किन्तु वातावरण से प्रभावित हुए बिना वे भी न रहे। सामन्त-वर्ग के आश्रित कवियों के प्रति यह दृष्टिकोण सही है। कालिदास में, देखना चाहिए, कहाँ तक सच्ची मानवीय संवेदना व्यंजित हुई है, किस सीमा तक सामन्त-वर्ग के प्रभाव से वह कुण्ठित हुई है। यह भी देखना होगा कि उस समय का सामन्त-वर्ग १७-१८वीं सदी के सामन्तों की तरह क्षय और ह्रास की दशा में न था। यह सब कौन करे ? आसान तरीका यह है कि 'रघुवंश' में राजाओं की चर्चा है, इसलिए कालिदास को सामन्त-वर्ग का चारण घोषित कर दिया जाय।

इसी तरह सन्त-साहित्य के मूल्यांकन में। आसान तरीका यह है कि सन्तों को दो वर्गों में बाँट दिया जाय : निर्गुणपन्थी सन्त, सगुणपन्थी भक्त। पहले को प्रगतिशील माना जाय, दूसरे को प्रतिक्रियावादी। कबीर से वर्णाश्रम-धर्म के विरोध में पंक्तियाँ एकत्र की जायँ, तुलसी से उसके समर्थन में। इससे सिद्ध हो जायगा कि अपने समय की परिस्थितियों को देखते हुए कबीर प्रगतिशील थे, तुलसी प्रतिक्रियावादी। सच्ची मानवता की पुकार कबीर में सुनी गई; तुलसी ने उसे कलियुग का पाप और कुप्रभाव कहा। फिर भी तुलसी को महान् कहना हो तो उनकी कला को विचारशून्य बताकर उसमें शैशव और सहानुभूति का रस-परिपाक सिद्ध कर दो। पता नहीं, तुलसी में जब मानवता की पुकार का ही विरोध था, तब यह सहानुभूति किसके लिए उमड़ चली थी ? यदि कहा जाय मर्यादापुरुषोत्तम राम के लिए, तो यशपालजी कहेंगे, "तुलसी की कल्पना में अवतार की आवश्यकता सामन्तशाही रूपी विषमताओं को दूर करने के लिए नहीं अपितु वर्णाश्रम-धर्म पर आश्रित सामन्तशाही के सम्मुख आ गई विषमताओं को दूर करने के लिए थी।" और ये विद्वान् हिन्दी के प्रगतिशील साहित्य से 'कुत्सित समाज शास्त्र' और 'संकीर्णतावाद' का मूलोच्छेद करने में एड़ी-चोटी का पसीना एक कर चुके हैं।

इस सीधे तरीके के विपरीत शुल्कजी में एक पेचीदा तरीका मिलता है। 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' में वह कहते हैं कि कबीर ने एक ओर तो भारतीय वेदान्त का पल्ला पकड़ा, दूसरी ओर निराकार ईश्वर की 'भक्ति' के लिए सूफ़ियों का प्रेम तत्त्व लिया। इस तरह भक्तों और सन्तों का दो एकदम भिन्न, परस्पर नितान्त विरोधी वर्गों में बँटवारा खत्म हो जाता है। उधर "सगुणोपासक भक्त भगवान् के सगुण और निर्गुण-रूप ज्ञान-मार्गियों के लिए छोड़ देता है।" तुलसीदास भी कहते हैं, "अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा।" कबीर, तुलसी, जायसी आदि कवियों में इन समानताओं के कारण शुल्कजी ने उन सभी की चर्चा 'भक्ति-काल' के अन्तर्गत की है। इन समानताओं को देखने से वह सरल वर्गीकरण खत्म हो जाएगा। इसलिए यशपालजी खफ़ा होकर कहते हैं, "कबीर और तुलसी दोनों को भक्ति-मार्ग का कवि कहकर एक श्रेणी में रख देना ऐतिहासिक मूढ़ता और अज्ञान ही कहा जाएगा।" यद्यपि यह यशपालजी का पहला लेख है, जिसमें उन्होने साहित्य पर इतिहास की दृष्टि फेंकी है, फिर भी उन्होंने अपने इस प्रथम प्रयास में जिस आत्मविश्वास का उद्घाटन किया है, वह सचमुच ऐतिहासिक है!

काव्य में सूक्तियाँ ही अपेक्षित नहीं हैं, उसमें मानव-जीवन का सजीव चित्रण भी होना चाहिए। कौन मानवता की पुकार सुनता है, इसकी एक कसौटी यह भी है कि कौन मानव का चित्रण करता है। शुक्लजी के शब्दों में तुलसीदास "अपने ही तक दृष्टि रखने वाले भक्त न थे, संसार को भी दृष्टि फैलाकर देखने वाले भक्त थे।" उन्होंने 'व्यक्त जगत्' के 'अनेक रूपात्मक स्वरूप को' सामने रखा। इस तरह तुलसी का दृष्टिकोण व्यक्त-जगत् को ग्रहण करता है, उसके अनेकात्मक स्वरूप को काव्य में चित्रित करता है। किन्तु यशपाल, रांगेय राघव, राहुल सम्प्रदाय को व्यक्त-जगत् की अस्वीकृति, काव्य मे मानव-चरित्र के चित्रण का अभाव ही परम कलात्मक तत्त्व प्रतीत होता है!

प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन की यह पद्धति—मानव-जीवन के चित्रण को न परखकर सूक्ति-संकलन के बल पर कवियों का मूल्यांकन—छायावादी कवियों की आलोचना में भी दिखाई दी। इसी पद्धति के कारण प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी वर्मा की छायावादी उपलब्धियों का उचित मूल्यांकन नहीं हुआ, कलात्मक सौन्दर्य से शून्य, भाव-विह्वलता से शून्य, और सुसंगत विचारधारा से भी शून्य 'पन्त प्रगति के पथ पर' का इतना अभिनन्दन हुआ। यह पद्धति हिन्दी के अनेक 'मार्क्सवादी' लेखकों में इतनी दृढ़ता से अपनी जड़ जमाये है कि उनके संस्कारों का अंग बन गई है। वे पुराने कवियों की प्रशंसा भी करेंगे तो ऊपरी मन से; इसलिए करेंगे कि विदेश के मार्क्सवादी लेखक अपने पुराने लेखकों की परम्परा पर गर्व करते हैं। किन्तु उनके भीतरी संस्कार कहते हैं: ये सब स्वामी-वर्ग के स्वार्थ-साधक थे! यही कारण है कि पिछले बीस वर्षों में मार्क्सवादी लेखकों को

जितनी सफलता मिलनी चाहिए थी, वह उन्हें नहीं मिली। इससे न तो मार्क्सवादी की हानि होती है, न वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास की। स्वयं इन लेखकों की अवश्य हानि होती है और वे हिन्दी लेखक हैं, इसलिए एक सीमा तक हिन्दी-साहित्य की भी हानि होती है। इसीलिए सेवा में निवेदन है, प्राचीन साहित्य की नैतिकता की निन्दा करने से पहले अपनी नैतिकता का स्तर ऊँचा कीजिए, सूक्ति-संकलन के बदले मानव-जीवन के चित्रण पर ध्यान दीजिये, अपने से पहले के आलोचकों, विशेषकर आचार्य शुक्ल, का गम्भीरता से अध्ययन कीजिए, उस जनता की रसानुभूति को थोड़ी सहानुभूति से देखिये जिसकी सेवा करने का आपने व्रत लिया है और साहित्य में भावों, विचारों, इन्द्रिय-बोध, कलात्मक गठन, भाषा की चित्रमय, संगीतमय, अभिव्यञ्जना—इन सभी का ध्यान रखते हुए उसका मूल्यांकन कीजिए। इस मार्ग पर चलने से आप हिन्दी आलोचना-साहित्य को समृद्ध कर सकेंगे और वास्तविक अर्थ में जनता की सेवा करेंगे। वर्ना पिछले बीस वर्षों को देख लीजिए; 'नौ दिन चले अढ़ाई कोस' के हिसाब से ही प्रगतिशील साहित्य गतिशील होगा।

# ३ | तुलसी के सामाजिक मूल्य

तुलसीदास भारत के श्रेष्ठ भक्त-कवि हैं। वे भक्ति-आन्दोलन के निर्माता है, वे उसी भक्ति-आन्दोलन की उपलब्धि हैं। उनके साहित्य का सामाजिक महत्व भक्ति आन्दोलन के सामाजिक महत्व पर निर्भर है, उससे पूरी तरह सम्बद्ध है।

इस भक्ति-आन्दोलन की पहली विशेषता यह है कि वह अखिल भारतीय है। देश और काल की दृष्टि से ऐसा व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन संसार में दूसरा नहीं है। ईसा की दूसरी शताब्दी में ही आन्ध्र प्रदेश में कृष्णोपासना के चिह्न पाये जाते हैं। गुप्त सम्राटों के युग में विष्णुनारायण-वासुदेव की उपासना ने अखिल भारतीय रूप ले लिया।[1] पाँचवीं शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक तमिलनाड भक्ति-आन्दोलन का प्रमुख स्रोत रहा। आलवार सन्तों की कीर्ति सारे भारत में फैल गयी। कश्मीर में ललदेद, तमिलनाड में आन्दाल, बंगाल में चण्डीदास, गुजरात में नरसी मेहता—भारत के विभिन्न प्रदेशों में भक्त-कवि लगभग डेढ़ हज़ार वर्ष तक जनता के हृदय को अपनी अमृत वाणी से सींचते रहे।

यह भक्ति-आन्दोलन ब्रह्मदेश, अफ़गानिस्तान और ईरान की सीमाओं पर आकर रुक जाता है, सिन्ध, कश्मीर, पंजाब, बंगाल, महाराष्ट्र, आन्ध्र, तमिलनाड आदि प्रदेशों पर भक्ति-आन्दोलन की धारा पूरे वेग से बहती है। भक्त-कवियों ने विभिन्न प्रदेशों को राष्ट्रीय एकता के सूत्र में बाँधने मे कितना बड़ा काम किया था, उसका मूल्य आँकना सहज नहीं है। इनके पास राजनीतिशास्त्र के कोई ऐसे परिचित सूत्र नहीं थे, जिन्हें वे आये दिन दोहराते हुए जनता को एकताबद्ध करते। उन्होंने भावात्मक रूप से जनता को एक किया। इस भावात्मक एकता में मुख्य भाव था भक्ति का।

उस समय दैनिक समाचार-पत्र नहीं थे, साप्ताहिक और मासिक पत्र नहीं थे। प्रचार की सुविधा के लिए रेडियो नहीं था। आज ये सब साधन सुलभ हैं।

---

१. दि क्लॉसिकल एज, भारतीय विद्याभवन : पृष्ठ ४२२।

किन्तु क्या आज भारतीय जनता में—विशेष रूप से जनता के नेताओं में, उनकी पार्टियों में—वह भावात्मक एकता है, जो तुलसी के युग में थी ? यह प्रश्न करने से ही भक्ति-आन्दोलन के राष्ट्रीय महत्व का ज्ञान हो जायेगा।

सम्भवतः तुलसीदास के युग में विभिन्न प्रदेशों के साहित्यकार एक दूसरे की विचारधाराओं से जितना परिचित थे, उतना आज नहीं हैं। इधर विभिन्न भाषाओं के साहित्यिक आन्दोलन को लेकर अनेक शोध ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। इनसे यह स्पष्ट होता जा रहा है कि हिन्दी तथा अन्य भाषाओं के भक्ति साहित्य में जो समानताएँ दिखायी देती हैं, वे आकस्मिक नहीं हैं। वे इतर प्रदेशों के साहित्य से परिचित होने का फल है।

भक्ति-आन्दोलन से जो भावात्मक एकता स्थापित हुई, उसमें जितना फैलाव था, उतनी गहराई भी थी। यह एकता समाज के थोड़े से शिक्षितजनों तक सीमित नहीं थी। संस्कृत के द्वारा जो राष्ट्रीय एकता कायम हुई थी, उससे यह भिन्न थी। इसकी जड़ें नगरों और गाँवों की अपढ़ जनता के बीच गहरी चली गयी थीं। यह एकता प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम से कायम हो रही थी। भक्ति-आन्दोलन एक ओर अखिल भारतीय आन्दोलन था, दूसरी ओर वह प्रदेशगत, जातीय आन्दोलन भी था। देश और प्रदेश एक साथ; राष्ट्र और जाति दोनों की सांस्कृतिक धाराएँ एक साथ। भक्ति-आन्दोलन की व्यापकता और सामर्थ्य का यही रहस्य है।

जो लोग समझते हैं कि अंग्रेजों के आने से पहले यहाँ राष्ट्रीय एकता का अभाव था, उन्हें भक्ति-आन्दोलन के इस अखिल भारतीय रूप पर विचार करना चाहिए।

**भलि भारत भूमि, भले कुल जन्म, समाज सरीर भलो लहि कै।**
**जो भजै भगवान सयान सोई तुलसी हठ चातक ज्यों गहि कै॥**

यह उक्ति तुलसीदास की है।

अनेक विद्वान मानते हैं कि राष्ट्रीय एकता का ही नहीं, जनतन्त्र का पाठ भी अंग्रेजों ने ही हमें पढ़ाया। अंग्रेज न आते, तो यहाँ के लोग संकीर्ण जातिवाद में फँसे रहते। इन विद्वानों को विचार करना चाहिए, कि भक्ति-आन्दोलन में इतने जुलाहे, दर्जी, नाई, महार आदि इतर वर्णों के लोग कैसे सिमट आये। आजकल विश्वविद्यालयों में और साहित्य में कितने अध्यापक और लेखक हैं, जो द्विजेतर वर्णों के हैं।

सम्भवतः जातिप्रथा जितनी दृढ़ आज है, उतनी नामदेव दर्जी, सेना नाई, चोखा महार, रैदास चमार और कबीर जुलाहे के समय में न थी। और जातिगत संकीर्णता जितनी शिक्षित जनों में है, सम्भवतः उतनी सूर और कबीर के पद गाने वाले अपढ़ जनों में नहीं है। वर्णाश्रम धर्म और जाति प्रथा की जितनी तीव्र

आलोचना भक्ति-साहित्य में है, उतनी आधुनिक साहित्य मे नही है।

यहाँ पर आपत्ति की जा सकती है कि मैं भक्ति-आन्दोलन को बहुत व्यापक अर्थ दे रहा हूँ। भक्त और सन्त अलग थे; इन दोनो से भिन्न प्रेममार्गी कवि थे। इन सबको एक आन्दोलन में शामिल करना अनुचित है।

इसका उत्तर यह है कि स्वयं भक्त और सन्त कवि-भक्तों और सन्तो में वैसा भेद न करते थे जैसा आलोचक करते हैं। 'सन्त सभा चहुँ दिसि अँबराई। श्रद्धा रितु बसन्त सम आई।' 'सन्तसभा अनुपम अवध, सकल सुमंगल मूल। बन्दउ सन्त समान चित, हित अनहित नहिं कोइ' तुलसीदास की इन उक्तियो से देखा जा सकता है कि सन्त और भक्त शब्द उनके लिए पर्यायवाची हैं। उधर कबीर की उक्ति है—

**सहजै सहजै मेला होयगा, जागी भक्ति उतंगा।**
**कहै कबीर सुनो हो गोरख चलौ गीत के संगा॥**

कबीर भी सन्त और भक्त में भेद नहीं करते।

मलिक मुहम्मद जायसी वेद-पुराण और कुरान सभी का आदर करते थे।

'वेद-पन्थ जें नहिं चलहिं, ते भूलहिं बन माँझ।' यह उक्ति जायसी की है। पुराणों के बारे में लिखा था, 'एहि बिधि चीन्हहु करहु गियानू। जस पुरान महँ लिखा बियानू।' प्रेम-ज्ञान-वैराग्य-निर्गुण-सगुण आदि के भेदभाव उस समय अवश्य थे, किन्तु वे सब एक व्यापक आन्दोलन के अन्तर्गत थे। ये भेद उतने महत्वपूर्ण न थे, जितने कुछ आलोचकों को आज वे लगते हैं।

निराला जी ने अपने अनेक निबन्धों में प्रतिपादित किया है कि गोस्वामी तुलसीदास मूलतः रहस्यवादी थे। उनकी इस स्थापना के पीछे यह बोध था कि कबीर, जायसी, सूर और तुलसी की चेतना का एक सामान्य स्तर है। इस रहस्यवाद का सामाजिक महत्व असाधारण है। यह रहस्यवाद अद्वैत ब्रह्म के साक्षात्कार का दावा करके अनेक धर्मों और मतों के परस्पर विद्वेष का खण्डन करता था। वह उच्च वर्णों के कर्मकाण्डी धर्म के स्थान पर लोकधर्म की स्थापना करता था। इस लोकधर्म का आधार था प्रेम। कबीर, तुलसी, जायसी आदि कवि रहस्यवादियों के सामने ज्ञान-नेत्र खुलने, आनन्द से विह्वल होने की बातें करते हैं और इस आनन्द को वे मानव-प्रेम से जोड़ देते हैं।

जायसी ने लिखा था—

**सैयद असरफ पीर पियारा। जेहि मोहिं पन्थ दीन्ह उजियारा॥**
**लेसा हिये प्रेम कर दिया। उठी जोति भा निरमल हिया॥**

जायसी के ज्ञान-नेत्र खुले; उन्हें जो प्रकाश दिखायी दिया, वह प्रेम का प्रकाश था। तुलसी ने लिखा—

अस मानस मानस चख चाही । भइ कबि बुद्धि बिमल अवगाही ।।
भयउ हृदय आनंद उछाहू । उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रवाहू ।।

यहाँ भी ज्ञान-नेत्र खुलने की बात है। जो प्रकाश दिखायी देता है, उसमे प्रेम प्रवाह ही उमंगता है। यही प्रेम की भावात्मक एकता कबीर, सूर, जायसी और तुलसी को एक सामान्य भावभूमि पर ला खड़ा करती है। तुलसी के उपास्यदेव को कर्मकाण्ड नहीं, प्रेम ही प्रिय है।

रामहिं केवल प्रेम पियारा । जानि लेउ जो जाननिहारा ।।

यही प्रेम तत्व मानव समाज को एक सूत्र में बाँधनेवाला है।

आधुनिक काल मे जड़ और चेतन, सगुण और निर्गुण, ज्ञान और भक्ति का भेद आलोचकों के लिए बहुत महत्वपूर्ण हो गया है। तुलसी के युग में भी इस तरह के भेद थे, किन्तु तुलसीदास तथा अन्य कवियों का प्रयत्न इन भेदों को दूर करने की ओर था, उन्हें दृढ़ करने के लिए नहीं।

जायसी ने लिखा था—

परगट गुपुत सो सरब बिआपी । धरमी चीन्ह, न चीन्है पापी ।।

गोस्वामी जी ने इसी के समकक्ष लिखा था—

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा । अकथ अगाध अनादि अनूपा ।।
एक दारुगत देखिय एकू । पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू ।।

निर्गुण और सगुण परस्पर विरोधी नहीं है। एक ही सत्ता व्यक्त और अव्यक्त दोनों है। कबीर की उक्ति है—

जहँ चेत-अचेत खम्भ दोउ मन रच्या है हिण्डोर ।
तहँ झूलैं जीव जहान जहँ कतहूँ नांहि थिर ठौर ।।

कबीर-जायसी-तुलसी की एक सामान्य दार्शनिक भूमि है, उसी के अनुरूप उनके साहित्य की सामाजिक विषयवस्तु में बहुत बड़ी समानता है।

भक्ति-आन्दोलन अखिल भारतीय सांस्कृतिक आन्दोलन था। इस आन्दोलन की श्रेष्ठ देन थे, तुलसीदास। उन्होंने निर्गुण-पन्थियों और सगुण-मतावलम्बियों को एक किया, उन्होंने वैष्णवों और शाक्तों को मिलाया। उन्होंने भक्ति के आधार पर जनसाधारण के लिए धर्म को सरल और सुलभ बनाकर पुरोहितों के धार्मिक एकाधिकार की जड़ें हिला दीं। तुलसीदास मानवीय करुणा के अन्यतम कवि हैं। उनके राम दीनबन्धु हैं। 'सबरी गीध सुसेवकनि, सुगति दीन्ह रघुनाथ।' निषाद, समाज का परित्यक्त अन्त्यज, राम के लिए 'भरत सम भ्राता' है। वनवासी कोल-किरात राम के दर्शन से प्रसन्न होते हैं। 'आभीर जवन किरात खस स्वपचादि' सभी राम के स्मरण से मोक्ष-लाभ करते हैं। तुलसी स्वयं अपने को निम्न जनों में शामिल करके कहते हैं—

**जाति हीन अघ जनम महि, मुकुत कीन असि नारि ।**
**महामंद मन सुख चहसि, ऐसे प्रभुहि बिसारि ॥**

वे नारी की पराधीनता को पहचानने वाले, उसके दुख से द्रवित होने वाले कवि है। वही लिख सकते थे—

**कत विधि सृजी नारि जगमाहीं। पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं ॥**

जनकपुर, चित्रकूट, अयोध्या—सर्वत्र शूद्रों और अन्यजों के साथ स्त्रियाँ ही सबसे अधिक राम के निकट रहती हैं।

तुलसीदास ने भारतीय समाज के अनुपम चित्र दिये हैं। मन्दिर में देवीपूजा के लिए जाती हुई, सीता, शिव का विवाह, वृद्ध दशरथ और युवती कैकेयी का प्रेम, राम का वनवास राम-रावण का युद्ध—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने यथार्थ जीवन के विभिन्न चित्र दिये हैं। इन चित्रों के साथ उन्होंने आदर्श समाज का मानचित्र भी मिला दिया है, जिससे आज तक लोग सुखी समाज को रामराज्य कहते हैं।

तुलसीदास की वाणी मूलतः पीड़ित कृषक जनता की वाणी है। यह वाणी अप्रत्यक्ष रूप से विनयपत्रिका में अपनी अपार वेदना से हृदय को द्रवित कर देती है। कवितावली में प्रत्यक्ष रूप से किसानों के उत्पीड़न की चर्चा है। "खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।" इसी छन्द में उन्होंने दरिद्रता को रावण कहा है, जो संसार को दबाये हुए है। वे स्वयं जानते थे कि "आगि बड़वागि ते बड़ी है आगि पेट की।" काशी में महामारी का वर्णन इसी यथार्थवादी धारा के अन्तर्गत है।

गोस्वामी तुलसीदास ने राम को उपास्य मानकर आस्था का भवन निर्मित किया था। किन्तु कष्ट सहते-सहते एक बार तुलसीदास की आस्था भी डिग गई थी। उन्होंने क्षुब्ध होकर लिखा था—

**कियो न कछू, करिबो न कछू, कहिबो न कछू, मरिबो ही रह्यो है।**

इससे उनके मर्मान्तक कष्ट की कल्पना की जा सकती है।

भक्ति-साहित्य निराशाजन्य साहित्य नहीं है यद्यपि उसमें निराशा भी है। यह स्थापना कि मुसलमानों के शासनकाल में पराधीनता के कारण लोग भक्ति और निराशा के गीत गाने लगे, अवैज्ञानिक है। भक्ति-आन्दोलन तुर्क आक्रमणों से पहले का है। गुप्त सम्राटों के युग मे ही वैष्णव मत का प्रसार होता है, तमिल-नाड भक्ति-आन्दोलन का केन्द्र रहा, जहाँ मुसलमानों का शासन न था। स्वयं अनेक मुस्लिम सन्तों ने इस आन्दोलन मे योग दिया।

भक्ति-आन्दोलन विशुद्ध देशज आन्दोलन है। वह सामन्ती समाज की परि-स्थितियों से उत्पन्न हुआ था; वह मूलतः इस सामन्ती समाज-व्यवस्था से वि[illegible] का साहित्य है।

तुलसी-साहित्य एक ओर आत्मनिवेदन और विनय का साहित्य है, दूसरी ओर वह प्रतिरोध का साहित्य भी है। हमारे समाज पर गोस्वामी तुलसीदास का इतना गहरा प्रभाव है कि आज यह कल्पना करना कठिन है कि तुलसीदास ने अनेक प्रचलित मान्यताएँ स्वीकार करके यह साहित्य रचा था। 'काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब काहू की जाति बिगार न सोऊ'—जैसी उक्तियों से ही पता चलता है कि उन्हें काशी जैसे नगर में तीव्र विरोध सहना पड़ा था। वे राम के सम्मुख ही विनम्र और करुण स्वर से बोलनेवाले कवि हैं, औरों के आगे सर हमेशा ऊँचा रखते हैं। जिन्हें उनकी कविता नापसन्द हो, उन्हें 'काक कहहिं कलकण्ठ कठोरा' कहकर वे चुप कर देते हैं। वे आत्मत्याग करनेवाले को सर्व-श्रेष्ठ व्यक्ति मानते हैं। भक्त के पास अपना कुछ नहीं होता, इसीलिए—'राम ते अधिक राम कर दासा।' जब भरत चित्रकूट जाते हैं तब बादल उनके लिए ऐसी शीतल छाया करते हैं जैसी राम के लिए भी नहीं करते।

सामन्ती समाज के साहित्य की सबसे बड़ी कमजोरी होती है—निष्क्रियता। तुलसी का साहित्य निष्क्रियता का साहित्य नहीं है। धनुर्धर राम रावण का वध करनेवाले पुरुषोत्तम हैं। समुद्र उनकी विनय नहीं सुनता, तब वह 'भय बिनु होय न प्रीति' का मन्त्र सिद्ध करते हैं। तुलसी का साहित्य जीवन की अस्वीकृति का साहित्य नहीं है। वे उन लोगों का मजाक उड़ाते हैं जो काम, क्रोध के भय के मारे रात को सो नहीं पाते—'जागैं जोगी जंगम जती जमाती ध्यान धरैं डरैं उर भारी लोभ मोह कोह काम के।' केवल राम का भक्त चैन से सोता है—'सोवै सुख तुलसी भरोसे एक राम के।' काम, क्रोध, मद, लोभ बुरे हैं, किन्तु आवश्यक भी। भेद है मर्यादा का। नारद-मोह रावण की काम भावना अमर्यादित है, पुष्पवाटिका में, कंकन किंकिनि धुनि में मदन दुन्दुभी सुननेवाले, 'मन सीय रूप लुभावन' वाले राम का प्रेम मर्यादित है। परशुराम का क्रोध, रावण का क्रोध अमर्यादित है, समुद्र पर, रावण पर राम का क्रोध मर्यादित है। यूरोप के सन्तों की तरह तुलसी को स्वर्ग का मोह नहीं है, न उन्हें नरक का भय है। उनके राम अपनी जन्मभूमि को स्वर्ग से भी अधिक प्यार करते हैं—

जद्यपि सब बैकुण्ठ बखाना। बेद पुरान बिदित जग जाना॥
अवध सरिस प्रिय मोहिं न सोऊ। यह प्रसंग जानै कोउ कोऊ॥

तुलसीदास ने जो राम में जन्मभूमि का प्रेम, निर्धन और परित्यक्त जनों के प्रति प्रेम चित्रित किया है, वह आकस्मिक नहीं है। उनके हृदय में जो प्रेम-प्रमोद-प्रवाह उमगा था, वही राम में साकार हो गया है। उन्होंने कहा भी था—'जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।' तुलसीदास ने भी अपनी भावना के अनुसार राम को प्रेममय, अपार करुणामय देखा है। रामचरितमानस के राम वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति अन्य सभी कवियों के रामों से भिन्न हैं। वे तुलसी

के राम हैं। उनमे हमें स्वयं तुलसीदास की मानवीय छवि दिखायी देती है। इन करुणामय राम में कहीं तुलसी का चुनौती वाला स्वर सुनायी देता है—

**देव दनुज भूपति भट नाना। समबल अधिक होइ बलवाना॥**
**जौं रन हमहिं प्रचारै कोऊ। लरहिं सुखेन काल किन होऊ॥**

कहीं इनमें तुलसी की परिहासप्रियता दिखायी देती है।

**राम मात्र लघु नाम हमारा। परसु सहित बड़ नाम तोहारा॥**

लक्ष्मण में यही परिहासप्रियता कुछ अधिक मात्रा में चित्रित की गयी है। उसी प्रकार उनमें क्रोध की मात्रा अधिक है। *विनयपत्रिका* के तुलसी की छाप भरत के चरित्र पर है। तुलसी ने जैसे समस्त संसार को सियाराममय देखा था, वैसे ही रामचरितमानस के हर पात्र में तुलसी के मानस का कुछ न कुछ अंश विद्यमान है।

*तुलसी का काव्य लोक-संस्कृति का अभिन्न अंग बन गया है।* उनके समकक्ष संसार का कोई भी दूसरा कवि नहीं है, जिसे साधारण जनता ने इस तरह अपना लिया हो। उनके नाम के साथ कोई पन्थ नहीं जुड़ा है। रामचरितमानस को लोकप्रिय बनाने के लिए कोई संघबद्ध प्रयास नहीं किया गया। अपने आप मिथिला के गाँवों से लेकर मालवे की भूमि तक जनता ने इस ग्रन्थ को अपनाया। करोड़ों हिन्दीभाषियों के लिए धर्मग्रन्थ, नीतिग्रन्थ, काव्यग्रन्थ यदि कोई है तो रामचरित-मानस। इसका एक अप्रत्यक्ष सामाजिक फल यह हुआ है कि हिन्दीभाषी जनता को संगठित करने में, उसमें जातीय एकता का भाव उत्पन्न करने में रामचरित-मानस की अपूर्व भूमिका रही है। हिन्दीभाषी प्रदेश के जनपदों का अलगाव तुलसीदास के युग में ही दूर हो रहा था। इसका प्रमाण यह है कि उन्होंने अवधी और ब्रजभाषा दोनों में कविता रची। ब्रजभाषा की रचनाएँ ब्रज तक सीमित नहीं रहीं, अवधी की रचनाएँ अवध तक सीमित नही रही। इन रचनाओं में सूर और मीरा के पद प्रमुख हैं। अवधी में रामचरितमानस ने उसी कोटि की भूमिका पूरी की। *आश्चर्य की बात है कि जिन जनपदों के गाँवों में तुलसी और सूर की रच-नाओं का पाठ शताब्दियों से होता रहा है,* उनके कुछ अभिनव नेता और बुद्धि-जीवी अपने को हिन्दीभाषी क्षेत्र से अलग मानते हैं।

भक्ति-आन्दोलन और तुलसी-काव्य का राष्ट्रीय महत्त्व यह है कि उनसे भारतीय जनता की भावात्मक एकता दृढ़ हुई।

भक्ति-आन्दोलन और तुलसी-काव्य का प्रादेशिक महत्त्व यह है कि इनसे हिन्दीभाषी जनता की जातीय एकता दृढ़ हुई।

भक्ति-आन्दोलन और तुलसी-काव्य का अन्यतम सामाजिक महत्त्व यह है कि इनमें देश की कोटि-कोटि जनता की व्यथा, प्रतिरोध भावना और सुखी जीवन की आकांक्षा व्यक्त हुई है। भारत के नये जागरण का कोई महान कवि भक्ति-आंदो-

लन और तुलसीदास से पराङ्मुख नहीं रह सकता। वह सांस्कृतिक धारा रवीन्द्र-नाथ और निराला के साहित्य में अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित है। इस तथ्य की पुष्टि के लिए यहाँ रवीन्द्रनाथ की 'सूरदासेर प्रार्थना' और निराला की 'तुलसीदास' कविताओं का उल्लेख करना ही यथेष्ट होगा।

# ४ | भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : युगान्तरकारी व्यक्तित्व

आज से पिच्चासी वर्ष पहले २७ सितम्बर, १८८० के 'सारसुधानिधि' में यह प्रस्ताव छपा था कि बाबू हरिश्चन्द्र को भारतेन्दु की उपाधि दी जाये। समस्त हिन्दी-संसार ने इस प्रस्ताव का स्वागत किया। बाबू हरिश्चन्द्र सदा के लिए हिन्दी भाषी जनता के भारतेन्दु बन गये। इस उपाधि का जो मूल्य था, वह नोबेल पुरस्कार से बढ़कर था। यह जनता की दी हुई उपाधि थी। यह उपाधि सरकार और उसके समर्थकों के लिए चुनौती के रूप में थी। सरकार ने राजा शिवप्रसाद को सितारेहिन्द बनाया; जनता ने हरिश्चन्द्र को भारतेन्दु बनाया।

हिन्दी साहित्यकारों और हिन्दी-प्रेमियों का जैसा प्रेम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने पाया, वैसा प्रेम हिन्दी के दूसरे साहित्यकारों को नहीं मिला। अन्य भाषाओं में उनसे बड़े कलाकार पैदा हुए हैं, किन्तु पूर्ण चन्द्र की तरह जन-समुद्र मे प्रेम का ज्वार उठानेवाला व्यक्तित्व उन्हीं का था। इसके दो कारण थे। एक तो यह कि उन्होंने देश और समाज की महान् ऐतिहासिक आवश्यकता को पहचाना और उसे पूरा किया। दूसरा यह कि उन्होंने जो कुछ किया, वह निस्वार्थभाव से, देश और जनता के लिए, हिन्दी भाषा और साहित्य के लिए; अपने अहंकार की तुष्टि के लिए नहीं, अपना वन्दन-अभिनन्दन कराने के लिए नहीं।

भारतेन्दु से पहले साहित्य में खड़ी बोली का वह रूप विकसित हुआ था, जिसे हम उर्दू कहते हैं। कुछ लोग इसे हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों के मिलन का प्रतीक मानते हैं। यदि ऐसा होता तो बंगाल और महाराष्ट्र के हिन्दू-मुसलमान उर्दू ही बोलते, बंगला-मराठी भाषाओं का व्यवहार न करते।

भारत में तुर्की, पश्तो आदि भाषाएं बोलने वाली जातियों के लोग आये और बस गये। कश्मीर, सिन्ध, बंगाल आदि प्रदेशों में उन्होंने वहीं की भाषाएँ अपनायीं। हिन्दी क्षेत्र में मलिक मोहम्मद जायसी, रसखान, रहीम आदि ने यहाँ की प्रचलित साहित्यिक परम्पराओं को अपनाया। उस समय उत्तर भारत के मुसलमान इस बात का इन्तजार न करते रहे थे कि मुश्तर्का जबान का जन्म हो जाये,

तब हिन्दुओं से वार्तालाप आरम्भ करें।

मुगल साम्राज्य के पतनकाल मे खड़ी बोली के साहित्यिक रूप उर्दू का विकास हुआ। इस भाषा का ढांचा खड़ी बोली का था, किन्तु साहित्य की उच्च शब्दावली के लिए उसने केवल अरबी और फ़ारसी को आधार बनाया था। उत्तरप्रदेश में तो मुसलमान चौदह फीसदी के लगभग ही थे। बंगाल में जहाँ वे लगभग पचास फीसदी थे, वहां ऐसी बंगला का विकास न हुआ, जिसकी उच्च साहित्यिक शब्दावली केवल अरबी-फारसी से ली गयी हो। उर्दू का विकास भारत की समस्त भाषाओं से भिन्न दिशा में हो रहा था।

बहुत से उर्दू-प्रेमी मित्र यह मानते आये हैं कि हिन्दी-आन्दोलन साम्प्रदायिक आन्दोलन था। उसने उस मिली-जुली भाषा के प्रसार में भारी रुकावट पैदा की, जो पढ़े-लिखे हिन्दुओं और मुसलमानों के व्यवहार में आती थी। इस तरह की धारणाएँ आज भी प्रचलित हैं और वर्तमान भाषा सम्बन्धी समस्याओं से उनका गहरा सम्बन्ध है। इसीलिए भारतेन्दु का ऐतिहासिक महत्व समझने के लिए उस समय की परिस्थितियों पर विचार करना आवश्यक है।

फारसी उत्तर भारत में लगभग छह सौ वर्ष तक राजभाषा रही। दिल्ली के मुसलमान बादशाह अपने घरों में फ़ारसी न बोलते थे। फारसी उनकी मातृभाषा न थी। मुगल साम्राज्य के संस्थापक बाबर की मातृभाषा तुर्की थी। तुर्की या पश्तो बोलने वाले बादशाहों ने फारसी को वैसे ही राजभाषा बनाया, जैसे वर्तमान शासक वर्ग ने—सांस्कृतिक प्रभाव के कारण—अंग्रेजी को राजभाषा बना रखा है।

मुसलमान शासकों की मातृभाषा फ़ारसी थी, यह समझना उतना ही बड़ा भ्रम है, जितना यह समझना कि वर्तमान शासकों की मातृ या पितृभाषा अंग्रेजी है।

ईरानियों ने कभी भारत को नहीं जीता। अरबों ने कभी दिल्ली पर अपना झण्डा नहीं फहराया। फिर भी यह धारणा बहुतों में फैली हुई है कि बाहर से जो मुसलमान आये, उनकी मातृभाषा फ़ारसी थी।

फ़ारसी के सैकड़ों शब्द न केवल हिन्दी में वरन् बंगला, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं में घुलमिल गये। इसका कारण यह नहीं था कि आम मुसलमानों की भाषा फ़ारसी थी। कारण यह था कि फ़ारसी राजभाषा थी। नौकरी के लिए हर हिन्दू-मुसलमान के लिए उसका ज्ञान जरूरी था। फारसी के ज्ञान से मनुष्य विद्वान समझा जाता था, समाज में उसका आदर होता था। फारसी जानने वाले वर्ग ने जब खड़ी बोली में साहित्य-रचना की, तो स्वभावतः उसने उच्च शब्दावली फ़ारसी से ली। जो क्षेत्र दिल्ली से दूर थे, वहाँ के साहित्य पर फ़ारसी शब्दावली का प्रभाव कम पड़ा। जो साहित्य दिल्ली और लखनऊ में रचा गया, उसमें

फ़ारसी शब्दावली का आधिक्य रहा।

क्या ऐसी साहित्यिक भाषा, जो अपनी उच्च शब्दावली केवल अरबी-फ़ारसी से लेती हो, उज्जैन, पटना और दिल्ली के बीच फैले हुए विशाल प्रदेश की सामाजिक-सांस्कृतिक आवश्यकताएँ पूरी कर सकती थी ?

सम्भव है, शहर के उच्च वर्ग अपनी आवश्यकताएँ इस साहित्यिक भाषा से पूरी कर लेते। किन्तु ब्रज, अवध, बुन्देलखण्ड, भोजपुरी आदि क्षेत्रों के गाँवों में एक दूसरी तरह की शब्दावली का प्रचार था। यह शब्दावली मिलती है रामचरितमानस में, सूर और मीरा के पदों में, बिहारी के दोहों मे, देव-मतिराम-पद्माकर के सवैया-कवित्तों में, कबीर-जायसी-रहीम-रसखान-आलम आदि मुसलमान कवियों की रचनाओं में। इनकी शब्दावली गालिब, इकबाल की साहित्यिक शब्दावली से भिन्न है। तुलसी-सूर की साहित्यिक शब्दावली के हज़ारों शब्द बंगला-मराठी में मिलेंगे, उर्दू में वे मतरुक हैं।

यदि उर्दू वास्तव में मुस्तकीं ज़बान होती तो कोई शक्ति उसके मुकाबले में हिन्दी को प्रतिष्ठित न कर पाती। आधुनिक हिन्दी के समर्थ आन्दोलन का रहस्य यह था कि एक ओर साहित्यिक हिन्दी तुलसी-सूर-रसखान की परम्परा से सम्बद्ध थी, दूसरी ओर वह जनपदीय बोलियों के बहुत नजदीक थी।

आधुनिक हिन्दी के जन्मदाताओं ने अपने को इस संकीर्णता से बचाया कि वे फ़ारसी के प्रचलित शब्दों को अपने गद्य से निकाल दें। भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त आदि उर्दू के अच्छे ज्ञाता थे, उर्दू में जब-तब लिखते भी थे और उनके हिन्दी गद्य में फ़ारसी के सरल शब्दों का बहिष्कार नहीं किया गया। बीसवीं सदी के हिन्दी गद्य को संवारने में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का बहुत बड़ा हाथ था। उन्होंने अपनी भाषा-नीति के बारे में श्री कालिदास कपूर को १५ फरवरी सन् '१८ के पत्र में लिखा था—"अरबी-फ़ारसी के जो शब्द प्रचलित हैं, उन्हें हिन्दी ही के शब्द समझता हूँ। मेरे लेख इस बात के प्रमाण हैं। पहले लोग निन्दा करते थे। कहते थे, यह हिन्दी को बिगाड़ रहा है। पर अब नहीं बोलते। और लोग भी सरस्वती की अब नकल करने लगे हैं।"[1]

हिन्दी के तमाम समर्थ साहित्यकार द्विवेदीजी की इसी उदार नीति के अनुगामी रहे हैं। इसीलिए हिन्दी आन्दोलन को साम्प्रदायिक कहना इतिहास के साथ अन्याय करना है।

भारतेन्दु इस आन्दोलन के जन्मदाता थे।

हिन्दीभाषी प्रदेश की जनता के सांस्कृतिक विकास के लिए यह आवश्यक था कि यहाँ ऐसी साहित्यिक भाषा का प्रसार हो, जो जनपदीय बोलियों के निकट हो,

---

१. सरस्वती, अप्रैल, १९४२

जो सूर और तुलसी की साहित्यिक शब्दावली को अपने में समेट ले, जो अपना विकास बंगला, मराठी आदि की तरह संस्कृत के सहारे करे, जो उच्च• शब्दावली के लिए एकमात्र फ़ारसी पर निर्भर न हो।

भारतेन्दु की भाषा-नीति इस ऐतिहासिक आवश्यकता के अनुकूल थी। इसीलिए उन्हें अपने कार्य में इतने शीघ्र सफलता मिली। उन्होंने लिखा था— "हिन्दी नयी चाल में ढली, सन् १८७३ ई०।"

१८७३ को अभी सौ साल भी नहीं हुए। जैसी बहुमुखी, अप्रतिहत, विराट् प्रगति एक शताब्दी में हिन्दी ने की है, वैसी प्रगति संसार की शायद ही किसी भाषा ने की हो।

आज से सौ वर्ष पहले हिन्दी की परिस्थिति बिलकुल भिन्न थी। हिन्दी में न उल्लेखनीय गद्य था, न पद्य था। ब्रजभाषा, अवधी, मैथिल आदि में उच्च कोटि का प्रचुर साहित्य था। यह भी हिन्दी का साहित्य था, हिन्दी के व्यापक अर्थ में। किंतु खड़ी बोली हिंदी साहित्य का समर्थ माध्यम न बनी थी। अंग्रेजों ने कचहरियों में फ़ारसी की जगह उर्दू का चलन किया था। गाँव से लेकर शहर तक कोई भी सरकारी काम उर्दू अंग्रेजी की जानकारी के बिना न हो सकता था। ब्रिटिश सरकार फूट डालो और राज करो की नीति के अनुसार अल्पसंख्यकों को बढ़ावा देती थी। वह हिन्दी के प्रसार में रुकावटें डालती थी। उर्दू-प्रेमी साहित्यकार नयी हिन्दी को अपने लिए बहुत बड़ा खतरा समझते थे। इनके अतिरिक्त हिन्दी के रूढ़िवादी साहित्यकार पुरानी काव्य-परम्पराओं से चिपके हुए थे। वे आधुनिक हिन्दी में गद्य के विकास के प्रति उदासीन थे।

भारतेन्दु ने इन तमाम बाधाओं पर विजय पायी। उन्होंने अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति हिन्दी की सेवा में लगा दी। उन्होंने 'कविवचनसुधा', 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका', आदि पत्रिकाएं निकालीं। बनारस को केन्द्र बनाकर उन्होंने साहित्यकारों का विशाल दल तैयार कर लिया। उनकी प्रेरणा से अनेक केन्द्रों से नये पत्र निकलने लगे। भारतेन्दु युग के लेखकों ने जनता में हिन्दी प्रेम जाग्रत किया, बड़े ही अध्यवसाय और लगन से उन्होंने हिन्दी गद्य को संवारा और हजारों नये पाठकों तक अपना साहित्य पहुँचाया। उनकी साधना अमर है। उसी साधना के बल पर आज हिन्दी हमारी जातीय भाषा है। सरकार और राजनीतिक पार्टियों के नेता कुछ भी कहें, भारत के जनसाधारण की व्यावहारिक राष्ट्रभाषा हिन्दी ही है।

भारतेन्दु की हिन्दी आदर्श हिन्दी मानी जाती थी। उनके समकालीन लेखकों में बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र और राधाचरण गोस्वामी जैसे लोग थे। ये स्वतन्त्रचेता, प्रतिभा के धनी, दूसरों का लोहा न मानने वाले साहित्यकार थे। भारतेन्दु कितने बड़े लेखक थे, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उस युग के महान् साहित्यकार उनकी गद्य शैली को आदर्श मानते थे।

उस गद्य में अक्सर शहरी नफ़ासत की कमी है। उसमें भदेसपन है, 'सियनि सुहावनि टाट पटोरे' का मजा है। जिन्दादिली में उसका मुकाबला नहीं है। नींद से उठने वाली एक नयी जाति का जयघोष उसमें सुनाई देता है।

भारतेन्दु ने कविता, नाटक, उपन्यास आदि साहित्य की सभी विधाओं पर ध्यान दिया। इन सबमें उस युग की अपनी, साहित्य की सबसे विकसित विधा है—निबन्ध। भारतेन्दु और प्रतापनारायण मिश्र के निबन्धों का रूप अंग्रेजी की देन नहीं है। वह हिन्दी की अपनी सहज विकसित विधा है।

गद्य की जो विशेषताएँ निबन्धों में हैं, वे नाटकों मे भी मिलती हैं। विशेष रूप से प्रहसनों में व्यंग्य और हास्य खूब निखरा हुआ है।

भारतेन्दु ने नाटक पर एक विस्तृत निबन्ध लिखकर आधुनिक हिन्दी आलोचना को जन्म दिया।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र केवल साहित्यिक हिन्दी भाषा के निर्माता नहीं थे, वे आधुनिक हिन्दी साहित्य के निर्माता भी थे। उन्होंने ब्रजभाषा की पुरानी कविता में नयी जान डाली। उनकी श्रृंगार और भक्ति की रचनाएँ पुराने कवियों की रचनाओं से होड़ करती हैं। उन्होंने खड़ी बोली में भी अनेक पद्य रचे। इनमें उनकी लावनी सबसे सफल है। साहित्य को उनकी देन है : राष्ट्रीय विचारधारा। 'भारत-दुर्दशा' जैसे नाटकों में, 'जातीय संगीत' जैसे निबन्धों में उन्होंने देश की दशा पर ध्यान केन्द्रित किया है।

इस प्रकार उन्होने साहित्य की विषयवस्तु में युगान्तकारी परिवर्तन किया। भारतेन्दु घर में बैठकर मात्र मनोविनोद के लिए साहित्य रचने वाले जीव न थे। उन्होंने कलकत्ता और पुरी के अलावा हिन्दी क्षेत्र के गाँव की यात्रा भी की थी। उन्होंने खान देश के बाढ़ पीड़ितों से लेकर फ्रांस के दुखियों तक के लिए चन्दा इकट्ठा किया था। वे स्वदेशी के प्रथम प्रचारकों में थे। बंग-भंग और गांधी जी के आन्दोलनों से बहुत पहले उन्होंने ऐसी संस्था बनायी थी, जिसके सदस्य स्वदेशी वस्त्रों का ही व्यवहार करते थे। वे मेलों में जाकर नाटक कर सकते थे, वे जनता के बीच भाषण देते थे। इस जनसम्पर्क के कारण ही उनका साहित्य इतना सजीव है।"

भारतेन्दु की लोकप्रियता का कारण यह है कि उन्होंने समाज और साहित्य की आवश्यकताओं को पहचाना, उन्हें पूरा किया। उनकी लोकप्रियता का दूसरा कारण उनका व्यक्तित्व है, चन्द्रमा के समान प्रकाशमय, दूसरों के सामने अपने कलंक भी प्रकट कर देने वाला। यह बात जग जाहिर थी कि वे मेधावी और मल्लिका के प्रेमी हैं। उन्होंने अपनी प्रेमिका के बनाये पदों को अपने संग्रहों में स्थान दिया। वे रईस घराने में पैदा हुए थे, खर्चीले स्वभाव के थे। उनकी यह प्रतिज्ञा प्रसिद्ध थी—"इस धन ने मेरे पूर्वजों को खाया है, अब मैं इसे खाऊँगा।"

वे प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द के घराने में पैदा हुए थे। उनके पिता और पितामह अंग्रेजों के विश्वासभाजन थे। 'कुछ आप बीती कुछ जगबीती' में उन्होंने अपने यहाँ के मुसाहबों का इस प्रकार चित्रण किया है—

"कोई कहता था आपसे सुन्दर संसार में नहीं, कोई कसम खाता था, आप-सा पण्डित मैंने नहीं देखा, कोई पैगाम देता था, चमेलीजान आप पर मरती हैं, आपके देखे बिना तड़प रही हैं, कोई बोला, हाय ! आपकी फलानी कविता पढ़कर रात भर रोते रहे।"

इस वातावरण से ऊपर उठना, प्राचीन रूढ़ियाँ तोड़ कर नये युग के अनुकूल साहित्य रचना अपूर्व चरित्र बल से ही सम्भव था। भारतेन्दु ऊपर से बड़े कोमल थे। उनमे चरित्र की असाधारण दृढ़ता थी। इसीलिए वे इतना काम कर सके।

वे अंग्रेजी के अलावा बंगला, उर्दू आदि अनेक भारतीय भाषाएँ अच्छी तरह से जानते थे। उनमें ज्ञान की अदम्य पिपासा थी। उन्होंने नाटक से लेकर पुरातत्व तक अनेक विषयों पर कलम चलायी थी। उनके जो नाटक, पद्य और निबन्ध संकलित किये गये हैं, उनका परिमाण काफी है। किन्तु इनसे बहुत बड़े परिमाण में उनका वह गद्य है, जो 'कवि बचन सुधा' आदि पत्रिकाओं में है किंतु असंकलित है। उन्होंने हजारों पत्र लिखे थे, जिनमें कुछ बच रहे हैं, शेष नष्ट हो गये हैं। यह सब उन्होंने ३४ वर्ष की छोटी उम्र में ही कर डाला। उनका-सा परिश्रम करने वाले हिन्दी में बिरले ही हुए हैं।

बनारस की एक खास अदा—सादगी और मस्ती—उनके चरित्र की विशेषता थी। वे 'पैदल धूप में गर्म रेती पर सरजू के किनारे' घूम सकते थे। वे गुड़ जैसी बर्फी, भूर के लड्डू और काठ के टुकड़े जैसी बालूशाही की तारीफ कर सकते थे। वे अवध के किसानों में घुल-मिल सकते थे। "चूल्हे जल रहे हैं, सैकड़ों अहरे लगे हुए हैं, कोई गाता है, कोई बजाता हैं, कोई गप हाँकता है।" वे गंगा की फुहारों का आनन्द लेते हुए हरिद्वार में शिला पर बैठ कर भोजन कर सकते थे। "एक दिन मैंने श्री गंगा के तट पर रसोई करके पत्थर ही पर जल के अत्यन्त निकट परोस कर भोजन किया, जलके छलके पास ही-ठण्डे-ठण्डे आते थे, उस समय पत्थर का भोजन का सुख सोने के थाल के भोजन से कहीं बढ़के था।" ऐसे सहज आनन्दी स्वभाव के व्यक्ति पर लोग क्यों न रीझते ?

व्यंग्य और परिहास उनकी नस-नस में भरा था। पहली अप्रैल को उन्होंने लोगों को यह कहकर इकट्ठा कर लिया था कि एक मेम खड़ाऊँ पहन कर गंगा पार करेगी।

वे समाज-सुधारक थे, विधवा-विवाह के समर्थक थे, स्त्री-शिक्षा के प्रबल पक्षपाती थे। उनके विरोधियों की संख्या कम न थी। सरकारी क्षेत्रों के अलावा

रूढ़िवादी समाज के ठेकेदार उनके कट्टर शत्रु थे। उन्हें दृढ़ विश्वास था कि इन शत्रुओं का महत्व कीड़ों से अधिक नहीं है। वे नष्ट हो जाएँगे, भविष्य में लोग भारतेन्दु को ही याद करेंगे।

'प्रेमजोगिनी' में सूत्रधार भारतेन्दु को लक्ष्य कर कहता है, "क्या हुआ जो निर्दय ईश्वर तुझे प्रत्यक्ष अपने अंक में रखकर आदर नहीं देता और खल लोग तेरी नित्य एक नयी निन्दा करते हैं और तू संसारी वैभव से सुचित नहीं है; तुझे इससे क्या, प्रेमी लोग जो तेरे और तू जिन्हें सरबस है, वे जब जहाँ उत्पन्न होंगे, तेरे नाम को आदर से लेंगे और तेरी रहन-सहन को अपनी जीवन-पद्धति समझेंगे··· स्मरण रखो ये कीड़े ऐसे ही रहेंगे और तुम लोक-बहिष्कृत होकर भी इनके सिर पर पैर रख के विहार करोगे, क्या तुम अपना वह कवित्त भूले गये—"कहैंगे सबै ही नैन नीर भरि-भरि पाछे प्यारे हरीचन्द की कहानी रह जायगी।"

भारतेन्दु के प्रेमी उनका नाम आदर से लेते हैं। नैनों में नीर भरकर उनकी कहानी कहते हैं। वे विरोधियों के सामने शिला की तरह कठोर थे, दुखी-जनों के लिए कुसुम से भी कोमल थे। अंगूठी से लेकर दुशाले तक जो सामने हुआ, उसे उन्होंने याचक को दे डाला। कर्ज के भार से दबे रहे, लेकिन मरने से पहले सब का कर्ज चुका गये।

मौत को देखकर उनकी जिन्दादिली मुर्झायी नहीं। ३४ वर्ष की आयु में अकाल मृत्यु का परिहास करते हुए उस वीर ने कहा था, "हमारे जीवन के नाटक का प्रोग्राम नित्य नया-नया छप रहा है—पहले दिन ज्वर की, दूसरे दिन दर्द की, तीसरे दिन खाँसी की सीन हो चुकी, देखें लास्ट नाइट कब होती है।"

ऐसा था युग-प्रवर्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का व्यक्तित्व। उसकी छाप हिन्दी साहित्य पर, हिन्दी-साहित्यकारों के हृदय पर चिरकाल तक रहेगी। हरियाने के बालमुकुन्द गुप्त, ब्रज के राधाचरण गोस्वामी, अवध के प्रतापनारायण मिश्र सभी उनके भक्त थे।

राधाचरण गोस्वामी ने अपने जीवन चरित में भारतेन्दु के बारे में लिखा था, "उनके लेख-ग्रन्थ हमको वेद-वाक्यवत् प्रमाण और मान्य थे, उनको मानो ईश्वर का एकादश अवतार मानते थे। हमारे सब कार्यों में वे आदर्श थे, उनकी एक-एक बात हमारे लिए उदाहरण थी।"

इन वाक्यों से भारतेन्दु के प्रति समकालीन लेखकों की श्रद्धा का अनु[illegible] किया जा सकता है।

१९५० में भारतेन्दु की जन्मशती उत्सव में भाषण करते हुए हिन्दी [illegible] स्वाभिमानी कवि निराला ने कहा था, "मैं उनके दरबार का दरबा[illegible] हूँ।"[1] जो शीश किसी के सामने न झुका था, वह भारतेन्दु [illegible] आगे

१. भारत, १८ सितम्बर १९५०।

नत था। नवजागरण के अग्रदूत भारतेन्दु ने हमें यह मन्त्र सिखाया था, "परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा का भरोसा मत रक्खो, अपने देश में अपनी भाषा में उन्नति करो।" भारतेन्दु की बड़ी इच्छा थी कि एक हिन्दी की यूनिवर्सिटी स्थापित हो। उनकी यह इच्छा अभी पूरी नहीं हुई। देश मे अंग्रेजी का प्रभुत्व बना हुआ है। इस समय दक्षिण के हिन्दी-प्रेमियों की वैसे ही पूछ नहीं है जैसे सन् '४७ मे राष्ट्रवादी मुसलमानों की पूछ नहीं थी। मुसलमानों के प्रतिनिधि बन गये थे मुस्लिम लीगी। वैसे ही दक्षिण की महान भाषाओं के प्रतिनिधि बन गये हैं, अंग्रेजी-प्रेमी-अवसरवादी राजनीतिज्ञ।

किन्तु आज भारतेन्दु युग की तुलना में देश की परिस्थितियाँ हिन्दी के बहुत अनुकूल हैं। अब हमारी भाषाओं का दमन करने वाले अंग्रेज नहीं हैं। राज्य सत्ता देशवासियों के हाथ में है। अब हिन्दी में आधुनिक साहित्य का अभाव नहीं है। उसके लेखक भारत के अन्य प्रदेशों में और भारत के बाहर ख्याति-प्राप्त कर चुके हैं। कमी है तो केवल संगठन की।

भारतेन्दु ने भाषा और साहित्य मे जिस आन्दोलन का सूत्रपात किया था, वह राष्ट्रीय जनतान्त्रिक था। जो उसे साम्प्रदायिक कहते हैं, वे अपना ही अहित करेंगे। हिन्दी भाषी जनता संगठित होकर भारतेन्दु का स्वप्न साकार कर सकती है। जिस दिन हम अपने प्रतिनिधियों को बाध्य कर सकेंगे कि वे लोक सभा में हिन्दी बोलें, उस दिन भारत में विशाल अंग्रेजी-विरोधी मोर्चा बनेगा, तभी केन्द्रीय राज-भाषा अंग्रेजी से दबी हुई प्रादेशिक भाषाएँ नयी शक्ति से फलें-फूलेंगी, तभी हम देखेंगे कि दक्षिण में राष्ट्रभाषा प्रेमी विद्यमान हैं—और अंग्रेजी के लिए शोर मचाने वाले अवसरवादी दक्षिण से सच्चे प्रतिनिधि नहीं हैं। हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने में निर्णायक भूमिका हिन्दी-भाषी जाति की है। भारत में अंग्रेजी का प्रभुत्व खत्म करके ही हम भारतेन्दु के प्रति सच्ची श्रद्धाजलि अर्पित करने के अधिकारी हो सकते हैं।

# ५ | शैलीकार और शब्द-पारखी : बालमुकुन्द गुप्त

रायकृष्णदास जी ने जब आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से पूछा : आपकी राय मे सबसे अच्छी हिन्दी कौन लिखता है ? तब उन्होंने उत्तर दिया : अच्छी हिन्दी बस एक व्यक्ति लिखता था—बालमुकुन्द गुप्त।

गुप्त जी ने भारतेन्दु-युग के वातावरण में हिन्दी की सेवा करना सीखा था। वह प्रतापनारायण मिश्र के सहयोगी थे। उन्होंने 'भारत मित्र' में द्विवेदी जी की रचनाएँ छापी थीं। "गुप्त जी व्यंग्यकार, शब्दों के प्रयोग और व्याकरण के सूक्ष्म तत्वों के विशेषज्ञ, इतिहास और राजनीति के विद्वान, जीवनी-लेखक, हिन्दी भाषा के अधिकारों के लिए निरन्तर संघर्ष करने वाले सैनिक और अपनी पत्रकार कला द्वारा जनता में नवीन राष्ट्रीय और जनतान्त्रिक चेतना फैलाने वाले लेखक थे। उन्होंने अपना जीवन उर्दू पत्रकार के रूप मे आरम्भ किया था। वे अन्त समय तक 'जमाना' जैसे पत्रों में भी लिखते रहे। उन्होंने साधारण शिक्षा पायी थी, किन्तु अपने अध्यवसाय से उन्होंने बंगला, अंग्रेजी, सस्कृत आदि भाषाओं का ज्ञान भी प्राप्त किया। उनका मुख्य कार्य-क्षेत्र कलकत्ता रहा। 'भारत मित्र' के साथ गुप्त जी का नाम वैसे ही जुड़ा है जैसे 'सरस्वती' के साथ द्विवेदी जी का। वे धार्मिक प्रवृत्ति के लेखक थे, किन्तु विचारों में अत्यन्त उदार थे। यद्यपि उर्दू के विरुद्ध और नागरी के पक्ष में उन्होंने बहुत कुछ लिखा था, फिर भी वे हिन्दी-उर्दू की बुनियादी एकता के प्रबल समर्थक थे। अपनी उग्र राजनीति चेतना के कारण वे भारतेन्दु से अधिक बालकृष्ण भट्ट के निकट हैं। उनका ललित और सरस है, इस दृष्टि से वे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और प्रतापन मिश्र की शैली के अनुवर्ती हैं। किन्तु उनका-सा पैना व्यंग्य उस युग के अन्य लेखक मे नहीं है। वाद-विवाद को कलात्मक बना देने में वे अनुप हान्त

गुप्तजी का व्यापारी-वर्ग से घनिष्ठ सम्बन्ध था। अपने दृढ़ चरि पुत्र- उन्होंने अपनी नीति व्यापारियों के प्रभाव से मुक्त रखी। इतना विरुद्ध- उनकी आलोचना भी करते रहे 'जमाना' सम्पादक दयानार करने

कलकत्ते के व्यापारियों का जिक्र करते हुए कहा था कि वे कहते हैं, "हमने सबको अपना बना लिया, किसी को खुशामद से, किसी को रुपये से, किसी को नीति-निपुणता से, परन्तु हमारा जादू नहीं चला, तो एक बालमुकुन्द गुप्तजी पर !"

'हिन्दी की उन्नति' शीर्षक लेख में उन्होंने 'मातृभाषा पर अनन्त अनुराग, अनन्त प्रेम, अनन्त भक्ति' की चर्चा की थी। यह अनुराग, प्रेम और भक्ति उनमें विद्यमान थी। उन्होंने अपने जीवन का प्रतिदिन देश और हिन्दी की सेवा में लगा दिया। सवेरे आठ बजे से अखबार का काम शुरू करना, भोजन के उपरान्त फिर दफ्तर में आ जमना, रात को भी लिखना, विज्ञापन से लेकर पत्र-व्यवहार का सारा काम देखना—उस समय के पत्रकार का जीवन सुगम नहीं था।

गुप्तजी को अपने पत्र से बेहद प्रेम था। 'वेंकटेश्वर समाचार' के स्वामी ने उन्हें दूने वेतन पर अपने यहाँ बुलाना चाहा, लेकिन उन्होंने अस्वीकार कर दिया। हैदराबाद के वजीर महाराजा सर कृष्णप्रसाद उन्हें बुलाना चाहते थे। गुप्तजी ने अपने मध्यस्थ मित्र को लिखा, "मेरे 'भारत मित्र' पत्र को दो रुपये वार्षिक देकर जो ग्राहक पढ़ता है, वही मेरे लिए महाराजा कृष्णप्रसाद है। यदि महाराज को मुझे जानना है कि मैं क्या हूँ, तो उनसे कहिए कि दो रुपये वार्षिक भेजकर 'भारत-मित्र' के ग्राहक बनें और उसे पढ़ा करें : मुझे आने का अवकाश नहीं है।"

गुप्तजी ने हिन्दी गद्य के साथ पत्रकार की स्वाधीन चेतना और निर्भीकता का आदर्श भी देश के सामने रखा। राजा रामपाल सिंह ने उन्हें 'हिन्दोस्थान' पत्र से अलग कर दिया था, "कारण गवर्नमेंट के विरुद्ध बहुत कड़ा लिखते हैं।" राजाओं और धनकुबेरों के साथ निभ जाये, गुप्तजी ऐसे पत्रकार न थे। उनके लिए मातृभाषा की भक्ति और देशभक्ति, दो चीजें न थीं। वे जनता में स्वाधीनता के भाव जगाकर अपनी भाषा और साहित्य को समृद्ध कर रहे थे।

'शाइस्ता खाँ का खत' नाम के व्यंग्यपूर्ण निबन्ध में उन्होंने अंग्रेजी राज के शोषण के बारे में लिखा था, "जहाँ तुम्हारी हुकूमत जाती है, खाने-पीने की चीजों को एकदम आग लग जाती है, क्योंकि तुम तो हम लोगों की तरह खाली हाकिम ही नहीं हो, साथ-साथ बक्काल भी हो। उस अपने बक्कालपन की हिमायत के ...ए ही हमारे जमाने को बंगाल में खेंचकर लाना चाहते हो। जो बादशाह भी है ...र बक्काल भी है, उसकी हुकूमत में खाने-पीने की चीजें सस्ती कैसे हों ?"

आन... 'शिवशम्भू का चिट्ठा' व्यंग्यपूर्ण राजनीतिक निबन्धों का सिरमौर है। इतने ...क ढंग से ब्रिटिश राज की आलोचना बहुत कम लोगों ने की है। इसमें लोगों को ...जंन को लेकर अद्भुत परिहास है; जगह-जगह परिहास की जगह लेखक पार करेगी ...ास रूप में प्रकट होता है। उनकी कल्पना नये और अनुपम चित्र ...वे समा...ी है, उनका देश-प्रेम जहाँ-तहाँ कवित्वपूर्ण ढंग से प्रकट होता है।

...क्षपाती थे। ...ी राजा, नवाब, बेगम आपके दर्शनार्थ बम्बई पहुँचे। बाजे बजते

रहे फौजें सलामी देती रहीं। ऐसी एक भी सनद प्रजा-प्रतिनिधि होने की शिव-शम्भु के पास नही है। तथापि वह इस देश की प्रजा का, यहाँ के चियड़ा-पोश कंगालों का प्रतिनिधि होने का दावा रखता है, क्योंकि उसने इस भूमि में जन्म लिया है। उसका शरीर भारत की मिट्टी से बना है और उस मिट्टी में अपने शरीर की मिट्टी को एक दिन मिला देने का इरादा रखता है।···गाँव में उसका कोई झोंपड़ा नहीं है। जंगल मे खेत नही है। एक पत्ती पर भी उसका अधिकार नहीं है। पर इस भूमि को छोड़कर उसका संसार में कही ठिकाना भी नही है। इस भूमि पर उसका जरा स्वत्व न होने पर भी इसे वह अपनी समझता है।···

"विक्रम, अशोक, अकबर के साथ यह भूमि साथ नही गयी। औरंगजेब, अलाउद्दीन इसे मुट्ठी में दबाकर नहीं रख सके। महमूद, तैमूर और नादिर इसे लूट के माल के साथ ऊँटों और हथियारों पर लाद कर न ले जा सके। आगे भी यह किसी के साथ न जायेगी, चाहे कोई कितनी ही मजबूती क्यों न करे।"

इस देश-प्रेम का जवाब नहीं है। कैसा अटूट आत्मविश्वास जनता की अपराजेय शक्ति में है। धरती जनता की है। उसका मालिक कोई राजा नहीं हो सकता, चाहे वह देशी हो, चाहे विदेशी। बालमुकुन्द गुप्त ने अपने कुल और वर्ग के संस्कारों से बहुत ऊचे उठकर देशभक्ति को नया अर्थ दिया। उनके लिए देश का अर्थ है, देश की निर्धन जनता। वे उन लोगो के प्रतिनिधि बनकर बोले हैं, जो स्वत्वहीन है, जिनका अपना कोई झोंपड़ा नहीं है, एक पत्ती पर भी जिनका अधिकार नहीं है। किन्तु सारा भारत इन्हीं का है, भविष्य इन्हीं का है। भारतीय राजनीति में यह नया स्वर था जिसे प्रेमचन्द और निराला जैसे साहित्यकारों ने आगे चलकर खूब समर्थ बनाया।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जिस हिन्दी-आन्दोलन का सूत्रपात किया था, वह राष्ट्रीय और जनतान्त्रिक था। बालमुकुन्द गुप्त ने साहित्य में जिस धारा का विकास किया, उसमें महत्व राजाओं और नवाबों का नहीं था, महत्व था देश की साधारण जनता का। देवनागरी लिपि का प्रश्न, हिन्दी भाषा का प्रश्न, अंग्रेजी की जगह हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का प्रश्न, इस जनता के भविष्य के साथ जुड़ा हुआ था और आज भी जुड़ा हुआ है।

जिन्होंने अंग्रेजी को राष्ट्रभाषा बनाया था, उन्होंने ही जनता का सत निकाल कर उसे भाग्य के सहारे गलियों और सड़कों पर मरने के लिए छोड़ दिया था। दिल्ली के उन अंग्रेजी-प्रेमी मठाधीशों से बालमुकुन्द गुप्त कहते हैं—

"इसी कलकत्ते में, इसी इमारतों के नगर में माई लार्ड की प्रजा में ... के आदमी ऐसे हैं, जिनके रहने को सड़ा झोंपड़ा भी नहीं है। गलियों और सड़कों पर घूमते-घूमते जहाँ जगह देखते हैं, वहीं पड़ रहते हैं। पहरे वाला आकर गुत्र-लगाता है, तो सरककर दूसरी जगह जा पड़ते हैं। बीमार होते हैं, तो ... विश्व-

पड़े पाँव पीटकर मर जाते हैं। कभी आग जलाकर खुले मैदान में पड़े रहते हैं। कभी-कभी हलवाइयों की भट्ठियों से चमट कर रात काट देते हैं। नित्य इनकी दो-चार लाशें जहाँ-तहाँ से पड़ी हुई पुलिस उठाती है। भला माई लार्ड तक उनकी बात कौन पहुँचावे ? दिल्ली दरबार में भी, जहाँ सारे भारत का वैभव एकत्र था, सैकड़ों ऐसे लोग दिल्ली की सड़कों पर पड़े दिखाई देते थे, परन्तु उनकी ओर देखने वाला कोई न था। यदि माई लार्ड एक बार इन लोगों को देख पाते, तो पूछने की जगह हो जाती कि वह लोग भी ब्रिटिश राज्य के सिटिजन हैं या नहीं ?"

जिन अंग्रेजों ने भारतीय जनता का शोषण इस प्रकार किया था, उन्हीं की भाषा स्वाधीन भारत की असली राष्ट्रभाषा बनी रहे, इससे अधिक अपमानजनक परिस्थिति दूसरी हो नहीं सकती।

बालमुकुन्द गुप्त उस युग के लेखक थे, जब हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए अहिन्दी प्रदेशों में जोरदार आवाज उठने लगी थी। "बंकिम बाबू के समय के बंगदर्शन ने, 'भारत एकता' नाम के लेख में हिन्दी को ही सारे भारतवर्ष की भाषा होने के योग्य माना था। इस बंगला लेख मे कहा गया था, "हिन्दी भाषार साहाय्ये भारत वर्षेर विभिन्न प्रदेशेर मध्ये जाहारा ऐक्य बन्धन संस्थापन करिते पारिबेन तांहारई प्रकृत भारत-बन्धु नामे अभिहित हइबार जोग्य।"

दुःख की बात है कि अनेक प्रदेशों के अंग्रेजी पढ़े लोग भारत-एकता की वह बात भूलते जाते हैं। गुप्तजी ने मद्रास से निकलने वाले एक हिन्दी पत्र का उल्लेख किया था, "जिसको एक मदरासी ने जारी किया है और वही उसका एडीटर है।"

हिन्दी की व्यापकता के बारे में गुप्तजी ने लिखा था, "अधिक क्या मंद्राज जैसे विकट देश के नगरों में भी हिन्दी समझी जाती है।" १२-१३ साल बाद यही बात गांधी जी ने भी लिखी थी। गुप्तजी का विचार था, "हिन्दी अब भी भारत-व्यापी है। हिन्दुस्तान के किसी भाग में चले जाइए, वहाँ गाँव वालों की भाषा समझना कठिन होगा। पर बड़े-बड़े नगरों में रहने वालों से बातें करने में विशेष कठिनाई न होगी।"

जनता ने अपने अन्तर्जातीय-सम्पर्क की समस्या बहुत पहले हल कर ली थी। ...किन जो आई. ए. एस. की परीक्षा पास करके कलक्टर-कमिश्नर बनने का सपना ... रहे हैं, उन्हें जनता का रास्ता पसन्द नहीं है। जनता पर हुकूमत करने के ... वे अंग्रेजी को आवश्यक समझते हैं। सरकारी नौकरियों के उम्मीदवार उस ... कोई बहुत बड़े देशभक्त न समझे जाते थे। गुप्तजी ने हिन्दी के पक्ष में बढ़ते ...त को लक्ष्य करके लिखा था, "यद्यपि बंगला, मराठी आदि भारतवर्ष की ... भाषाओं से हिन्दी अभी पीछे है, तथापि समस्त भारतवर्ष में यह विचार ...ा है कि इस देश की प्रधान भाषा हिन्दी ही है और वही यहाँ की राष्ट्र-... योग्य है।"

परे
आन
लोगों को
पार करेगी
वे सम
पक्षपाती थे।

हिन्दी के प्रसार का मार्ग सुगम नहीं था। परिस्थिति का एक पहलू यह था, *"जितने लोग भारतवर्ष में हिन्दी बोलते हैं, यदि उनमें से चौथाई भी नागरी लिख-पढ़ सकते, तो हिन्दी भाषा सबसे आगे दिखायी देती।"* जो लोग पढ़े-लिखे भी थे, वे अक्सर कैथी, मुड़िया आदि लिपियो का व्यवहार करते थे। इसीलिए हिन्दी प्रचार का आन्दोलन नागरी लिपि के प्रचार का आन्दोलन भी बन गया। नागरी लिपि हिन्दीभाषी जाति के गठन और उसके सांस्कृतिक विकास के लिए आवश्यक थी। इसके सिवा गुप्तजी के लिए देवनागरी के प्रचार पर ही हिन्दी का राष्ट्रभाषा बनना निर्भर था। "देवनागरी अक्षरों का जितना अधिक प्रचार होगा, उतना ही भारत-व्यापी होने योग्य भाषा हिन्दी का प्रचार होगा।"

परिस्थिति का दूसरा पहलू यह था कि उर्दू-प्रेमी समुदाय देवनागरी और हिन्दी का प्रबल विरोधी था, किन्तु यदि जनता के हितों को ध्यान में रखा जाये और सरकारी अफसरों की सुविधा के लिए भाषा-नीति निर्धारित न की जाये तो किसी भी समस्या का सही समाधान ढूँढ़ निकालना कठिन नहीं है।

परम आस्तिक बाबू बालमुकुन्द गुप्त हिन्दू धर्म में पूर्ण आस्था रखते हुए और इस्लाम को एकदम भिन्न धर्म मानते हुए हिन्दी और उर्दू को दो भाषाएँ न मानते थे। वे स्वयं उर्दू के लेखक थे। उन्होंने शेखसादी और मौलवी मुहम्मद हुसैन आजाद पर प्रशंसात्मक लेख लिखे थे। किन्तु धर्म के आधार पर भाषाओं का विभाजन भी हो सकता है, यह सिद्धान्त वे न मानते थे। उनका मत यह था, *"हिन्दी और उर्दू में केवल संस्कृत और फारसी आदि के शब्दों के लिए भेद है और* सब प्रकार दोनों एक है।" "इस समय हिन्दी के दो रूप हैं। एक उर्दू, दूसरा हिन्दी। दोनों में केवल शब्दों का नहीं, लिपि-भेद बड़ा भारी पड़ा हुआ है। यदि यह भेद न होता, तो दोनों रूप मिलकर एक हो जाते।"

"उर्दू वालों को देखिए कि उनकी भाषा हिन्दी है, उर्दू-हिन्दी में कुछ भेद नहीं है, इतना होने पर भी देवनागरी अक्षर न जानने के कारण हिन्दी से वह उतने ही दूर हैं, जितने बंगाली, मन्द्राजी।

हिन्दी के सम्मुख जो अपार बाधाएँ थीं, उनको दूर करने में बालमुकुन्द गुप्त और उस युग के लेखकों ने अभूतपूर्व त्याग, साहस और लगन का परिचय दिया, गुप्तजी के लेख पढ़ने से उन युग-निर्माताओं की छवि आँखों के सामने आ जाती है।

मेरठ के गौरीदत्त—उमर साठ साल के ऊपर, चेहरे पर झुर्रियाँ, "[illegible]ार के भी देवनागरी के लिए व्याख्यान देते समय इतना जोश था कि लड़कों [illegible] देहान्त उछल-उछल पड़ते थे।······आप धनी नहीं हैं, लखपति नहीं हैं, कि[illegible]ार पुत्र-३२ हजार रुपये नागरी के काम में आपके परिश्रम से व्यय हो चुके हैं [illegible] विश्व-नागरी ही लिखते हैं, नागरी ही पढ़ते हैं तथा नागरी ही में गीत ग[illegible] करने

पड़े पाँव पीटकर मर जाते हैं। कभी आग जलाकर खुले मैदान में पड़े रहते हैं। कभी-कभी हलवाइयों की भट्टियों से चमट कर रात काट देते हैं। नित्य इनकी दो-चार लाशें जहाँ-तहाँ से पड़ी हुई पुलिस उठाती है। भला माई लार्ड तक उनकी बात कौन पहुँचावे ? दिल्ली दरबार में भी, जहाँ सारे भारत का वैभव एकत्र था, सैकड़ों ऐसे लोग दिल्ली की सड़कों पर पड़े दिखाई देते थे, परन्तु उनकी ओर देखने वाला कोई न था। यदि माई लार्ड एक बार इन लोगों को देख पाते, तो पूछने की जगह हो जाती कि वह लोग भी ब्रिटिश राज्य के सिटिजन हैं या नहीं ?"

जिन अंग्रेजों ने भारतीय जनता का शोषण इस प्रकार किया था, उन्ही की भाषा स्वाधीन भारत की असली राष्ट्रभाषा बनी रहे, इससे अधिक अपमानजनक परिस्थिति दूसरी हो नहीं सकती।

बालमुकुन्द गुप्त उस युग के लेखक थे, जब हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए अहिन्दी प्रदेशो में जोरदार आवाज उठने लगी थी। "बंकिम बाबू के समय के बंगदर्शन ने, 'भारत एकता' नाम के लेख में हिन्दी को ही सारे भारतवर्ष की भाषा होने के योग्य माना था। इस बंगला लेख में कहा गया था, "हिन्दी भाषार साहाय्ये भारत वर्षेर विभिन्न प्रदेशेर मध्ये जांहारा ऐक्य बन्धन संस्थापन करिते पारिबेन तांहारई प्रकृत भारत-बन्धु नामे अभिहित हइबार जोग्य।"

दुःख की बात है कि अनेक प्रदेशों के अंग्रेजी पढ़े लोग भारत-एकता की वह बात भूलते जाते हैं। गुप्तजी ने मद्रास से निकलने वाले एक हिन्दी पत्र का उल्लेख किया था, "जिसको एक मदरासी ने जारी किया है और वही उसका एडीटर है।"

हिन्दी की व्यापकता के बारे में गुप्तजी ने लिखा था, "अधिक क्या मंद्राज जैसे विकट देश के नगरों में भी हिन्दी समझी जाती है।" १२-१३ साल बाद यही बात गांधी जी ने भी लिखी थी। गुप्तजी का विचार था, "हिन्दी अब भी भारत-व्यापी है। हिन्दुस्तान के किसी भाग में चले जाइए, वहाँ गाँव वालों की भाषा समझना कठिन होगा। पर बड़े-बड़े नगरों में रहने वालों से बातें करने में विशेष कठिनाई न होगी।"

जनता ने अपने अन्तर्जातीय-सम्पर्क की समस्या बहुत पहले हल कर ली थी। [illegible]किन जो आई. ए. एस. की परीक्षा पास करके कलक्टर-कमिश्नर बनने का सपना [illegible]र रहे हैं, उन्हें जनता का रास्ता पसन्द नहीं है। जनता पर हुकूमत करने के [illegible] वे अंग्रेजी को आवश्यक समझते हैं। सरकारी नौकरियों के उम्मीदवार उस [illegible]कोई बहुत बड़े देशभक्त न समझे जाते थे। गुप्तजी ने हिन्दी के पक्ष में बढ़ते [illegible]त को लक्ष्य करके लिखा था, "यद्यपि बंगला, मराठी आदि भारतवर्ष की [illegible] भाषाओं से हिन्दी अभी पीछे है, तथापि समस्त भारतवर्ष में यह विचार [illegible]ा है कि इस देश की प्रधान भाषा हिन्दी ही है और वही यहाँ की राष्ट्र-[illegible] योग्य है।"

हिन्दी के प्रसार का मार्ग सुगम नहीं था। परिस्थिति का एक पहलू यह था, "जितने लोग भारतवर्ष में हिन्दी बोलते हैं, यदि उनमे से चौथाई भी नागरी लिख-पढ़ सकते, तो हिन्दी भाषा सबसे आगे दिखायी देती।" जो लोग पढ़े-लिखे भी थे, वे अक्सर कैथी, मुड़िया आदि लिपियों का व्यवहार करते थे। इसीलिए हिन्दी प्रचार का आन्दोलन नागरी लिपि के प्रचार का आन्दोलन भी बन गया। नागरी लिपि हिन्दीभाषी जाति के गठन और उसके सांस्कृतिक विकास के लिए आवश्यक थी। इसके सिवा गुप्तजी के लिए देवनागरी के प्रचार पर ही हिन्दी का राष्ट्रभाषा बनना निर्भर था। "देवनागरी अक्षरों का जितना अधिक प्रचार होगा, उतना ही भारत-व्यापी होने योग्य भाषा हिन्दी का प्रचार होगा।"

परिस्थिति का दूसरा पहलू यह था कि उर्दू-प्रेमी समुदाय देवनागरी और हिन्दी का प्रबल विरोधी था, किन्तु यदि जनता के हितों को ध्यान में रखा जाये और सरकारी अफसरों की सुविधा के लिए भाषा-नीति निर्धारित न की जाये तो किसी भी समस्या का सही समाधान ढूँढ निकालना कठिन नहीं है।

परम आस्तिक बाबू बालमुकुन्द गुप्त हिन्दू धर्म में पूर्ण आस्था रखते हुए और इस्लाम को एकदम भिन्न धर्म मानते हुए हिन्दी और उर्दू को दो भाषाएँ न मानते थे। वे स्वयं उर्दू के लेखक थे। उन्होंने शेखसादी और मौलवी मुहम्मद हुसैन आजाद पर प्रशंसात्मक लेख लिखे थे। किन्तु धर्म के आधार पर भाषाओं का विभाजन भी हो सकता है, यह सिद्धान्त वे न मानते थे। उनका मत यह था, "हिन्दी और उर्दू में केवल संस्कृत और फारसी आदि के शब्दों के लिए भेद है और सब प्रकार दोनों एक है।" "इस समय हिन्दी के दो रूप हैं। एक उर्दू, दूसरा हिन्दी। दोनों में केवल शब्दों का नहीं, लिपि-भेद बड़ा भारी पड़ा हुआ है। यदि यह भेद न होता, तो दोनों रूप मिलकर एक हो जाते।"

"उर्दू वालों को देखिए कि उनकी भाषा हिन्दी है, उर्दू-हिन्दी में कुछ भेद नहीं है, इतना होने पर भी देवनागरी अक्षर न जानने के कारण हिन्दी से वह उतने ही दूर हैं, जितने बंगाली, मन्द्राजी।

हिन्दी के सम्मुख जो अपार बाधाएँ थीं, उनको दूर करने में बालमुकुन्द गुप्त और उस युग के लेखकों ने अभूतपूर्व त्याग, साहस और लगन का परिचय दिया। गुप्तजी के लेख पढ़ने से उन युग-निर्माताओं की छवि आँखों के सामने घूम जाती है।

मेरठ के गौरीदत्त—उमर साठ साल के ऊपर, चेहरे पर झुर्रियाँ, "तिस पर भी देवनागरी के लिए व्याख्यान देते समय इतना जोश था कि लड़कों की भाँति उछल-उछल पड़ते थे।······आप धनी नहीं हैं, लखपति नहीं हैं, तिस पर भी ३२ हजार रुपये नागरी के काम में आपके परिश्रम से व्यय हो चुके हैं।·······यह नागरी ही लिखते हैं, नागरी ही पढ़ते हैं तथा नागरी ही में गीत गाते हैं, भजन

गाते हैं, गजल बनाते हैं। नागरी ही मे स्वाँग-तमाशे करते हैं, नाटक खेलते हैं। जब सारा मेरठ शहर नौचन्दी की सैर करता है, तो वह वहाँ देवनागरी का झण्डा गाड़ते हैं।"

देवकीनन्दन तिवारी—"अपनी बनाई पोथियों की गठड़ी बगल में रखते थे, उनको बेचते और बाँटते भी जाते थे। एक मोटी 'कमरी' पहने हुए थे, सिर पर एक गोल बड़ी भद्दी टोपी थी, जो उस प्रान्त के पुरानी चाल के ब्राह्मण बहुधा पहना करते है। उनके वेश आदि से उनकी गरीबी जाहिर होती थी, पर बड़े तेजस्वी थे।"

प्रतापनारायण मिश्र—"हमने उनके मुँह से उनके लड़कपन की कितनी ही बातें सुनी हैं। सुनकर बड़ी हँसी आती थी···पढ़ने में परिश्रम उन्होंने कभी न किया और न कभी जी लगा कर पढ़ा।···फारसी गजलों पर अपने मिसरे लगा-लगाकर बहुत से मुखम्मस बनाये थे। उनमें कितने ही ऐसे थे कि सुनकर हँसते-हँसते आँतों में बल पड़-पड़ जाते थे।···हिन्दी किताबें और हिन्दी अखबार वह दिन-रात पढ़ा करते थे। जो पोथियाँ या अखबार रद्दी समझकर फेंक दिये जाते थे, उन्हें भी वह पढ़ डालते थे।"

अम्बिकादत्त व्यास, जिनकी मृत्यु से पहले "दो बार मरने की खबर भी उड़ चुकी थी···कितनी ही भाषाएँ जानते थे। हिन्दी-भाषा के जानने वालों में तो वह अद्वितीय थे ही, संस्कृत के भी अच्छे पंडित थे।"

पाण्डे प्रभुदयाल—प्रतापनारायण मिश्र के शिष्य, पाँच साल तक बंगवासी में गुप्तजी के सहयोगी, "हिन्दी के व्याकरण विषय में उनकी पहुँच बहुत बढ़-चढ़ कर थी।"

बाबू रामदीनसिंह, जिनके लिए प्रतापनारायण मिश्र ने कहा था, ऐसे राम-दीन हितकारी। अपने मित्र के नाम पर उन्होंने खड्ग विलास प्रेस कायम किया था और यहीं से भारतेन्दु ग्रन्थावली प्रकाशित की थी। "मुखमण्डल सदा प्रसन्न रहता था। सबसे हँसकर बातें करते थे।···पुस्तकों के ऐसे प्रेमी थे कि शरीर की धूल न झाड़ते थे और पुस्तकों की धूल झाड़ते थे।"

अमृतलाल चक्रवर्ती—हिन्दी बंगवासी में गुप्तजी के सहयोगी, गुप्तजी के साथ एक ही मकान में रहने वाले, नगर में घण्टों साथ घूमने वाले, हाईकोर्ट के पास गंगा के किनारे चबूतरे पर बैठकर गप लगाने वाले चक्रवर्ती जी ने लिखा है, "हिन्दी बंगवासी का आर्डर देने के दिन को हम तीनों साथ रहकर 'कतल की रात' बताते थे। भाषा-निर्माण के लिए हमारी लड़ाई ऐसी गहरी होती थी कि किसी-किसी दिन सारी रात बीत जाती थी। किस प्रान्त के किस शब्द को कहाँ जोड़ने से भाषा का समुचित लालित्य होगा, इस पर बड़ी जोरदार बहस होती थी।"

अमृतलाल चक्रवर्ती को "एक बार एक स्वजन का जामिन बनकर उनके कर्ज अदा करने मे असमर्थ होने से दीवानी जेल जाना पड़ा था।" उन्हें देखने गुप्तजी गये। चक्रवर्ती जी ने अपने मित्र की भावुकता के बारे में लिखा है, "हृदय की वेदना लेकर वह जेलखाने के दरवाजे पर पहुँचा और हृदय के मर्मस्थल से निकलते हुए अश्रुजल से भीगता हुआ अधूरी बातों में कहने लगा, "आपकी यह दशा सही नही जाती।" बस गला रुक गया। कण्ठ की बात कण्ठ ही मे रह गयी।··· केवल उस अश्रुजल से ही बाबू बालमुकुन्द गुप्त का मुझ पर वह करुणा वेग समाप्त नहीं हुआ, उनके प्रबन्ध से न उस कारागार में मुझे भोजन, शयनादि का कोई क्लेश रहा और न मेरे परिवार के लोगों को ही अन्न कष्ट भोगना पड़ा।"

माधवप्रसाद मिश्र—"कड़ी समालोचना लिखने में वह बड़े ही कुशलहस्त थे। अति तीव्र और जहर में बुझे लेख लिखने पर भी वह हँसी के लेख लिख कर पाठकों के चेहरे पर खुशी ला सकते थे। लिखने में वह बड़े ही निडर और निर्भीक थे। हिन्दी इतनी अच्छी लिखते थे कि दूसरा कोई उनके जोड़ का लिखने वाला नहीं दिखायी देता।"

एक बार हरियाने के दोनों वीर लड़ गये। गुप्तजी ने उन दिनों की याद करके लिखा, "इस नाराजगी के दिनों में कभी-कभी मिला करते तो कहते—'बस, अब यही बाकी है कि तू मर जाये तो एक बार तुझे खूब रो लें और हम मर गए तो हम जानते हैं कि पीछे तू रोयेगा।' आज पहली तो नहीं, पिछली बात हुई! याद करते-करते आँसू निकल पड़े। अब नहीं लिखा जाता!"

गुप्तजी की जन्म शताब्दी के अवसर पर उनके समस्त मृत्युंजयी सहयोगियों को हम नतमस्तक होकर अपनी हार्दिक श्रद्धा अर्पित करते हैं। उनका चरित्रबल, प्रतिभा, साधना हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास में अमर हैं।

गुप्तजी कलाकार थे। वे शब्दों के अनुपम पारखी थे। हिन्दी के साधारण शब्द उनके वाक्यों में नयी अभिव्यंजना-शक्ति से दीप्त हो उठते थे। जो लोग अंग्रेजी की अभिव्यजना-शक्ति के कायल हैं, वे इन वाक्यों का अनुवाद करें—'भारत की लाटगिरी का पक्का पट्टा विलायत के ईटन कालिज के लड़कों के नाम लिख देना चाहिए।'...'वह उड़े तो आसमान के तारे तोड़ ला सकता है, और नीचे की तरफ जाये तो समुन्दर की काई निकाल ला सकता है।' '...वह (शिक्षित लोगों की बोलचाल) खूब गठीली और चुस्त होती है, गुट्ठल और बेडौल नहीं होती।' '...'अब प्रश्न करने वाले एक प्रश्न कर सकते हैं कि क्यों द्विवेदी जी को इस प्रकार अचानक लालबुझक्कड बनकर इस खुदा की सुरमादानी का पता बताने की जरूरत पडी।'...'(शासक और नरेश) थोड़े-थोड़े दिन अपनी नौबत बजा गये, चले गये।"

...'यह आपकी बुद्धि की सख्त बहादुरी है।' '...'आपकी लियाकत के झण्डे

गड गये।' ...'जब खता पर खता देखी तो उनका कलेजा पक गया।' इस सरस और रोचक भाषा को लोग समृद्ध करने में लगे हैं! गुप्तजी की भाषा को देखकर विद्वान कह सकते हैं, इसमें क्या है? इसे तो कोई भी लिख सकता है। लेकिन विद्वानों के ग्रन्थों में ढूँढिए तो दो वाक्य ऐसे न मिलेंगे जो गुप्तजी के ग्रन्थों से टक्कर ले सकें।

गुप्तजी हिन्दी भाषा की प्रकृति को बहुत अच्छी तरह पहचानते थे। वह अनगढ भाषा के कट्टर शत्रु थे। अनस्थिरता शब्द को लेकर उन्होंने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के विरुद्ध जो लेखमाला प्रकाशित की थी, उसका व्यंग्य और परिहास, तर्क में उनकी सूझबूझ, शब्द और व्याकरण की समस्याओं पर सरस वाक्य-रचना, सब-कुछ अनूठा है। वाद-विवाद की कला के वह आचार्य हैं।

उनके वाक्यों में सहज बाँकपन रहता है। उपमान ढूँढने में उन्हें श्रम नहीं करना पडता। व्यंग्यपूर्ण गद्य मे उनके उपमान विरोधी पक्ष को परमहास्यास्पद बना देते हैं।

—"आपके हुक्म की तेजी तिब्बत के पहाडो की बरफ को पिघलाती है, फारिस की खाडी का जल सुखाती है, काबुल के पहाडो को नर्म करती है।"

"समुद्र, अंग्रेजी राज्य का मल्लाह है, पहाडों की उपत्यकाएँ बैठने के लिए कुर्सी-मूढे। बिजली, कलें चलाने वाली दासी और हजारों मील खबर लेकर उडने वाली दूती।"

अपने व्यंग्य-शरों से उन्होने प्रतापी ब्रिटिश राज्य का आतंक छिन्न-भिन्न कर दिया। साम्राज्यवादियों के तर्कजाल की तमाम असगतियाँ उन्होंने जनता के सामने प्रकट कर दी। अपनी निर्भीकता से उन्होंने दूसरों में यह मनोबल उत्पन्न किया कि वे भी अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध बोलें।

गुप्तजी ने हर्बर्ट स्पेन्सर के बारे में लिखा था, "उसने कभी कोई उपाधि न ली, कभी राजा का दर्शन करने न गया, कभी धूनी की सेवा न की और न किसी सभा का सभापति हुआ।" इन शब्दों में उन्होंने स्वय अपने जीवन का आदर्श प्रस्तुत कर दिया है। उन्हें लोकगीतों से विशेष प्रेम था और उन्हीं की तर्ज पर उन्होंने तीखी राजनीतिक कविताएँ लिखी थीं। कविता, इतिहास, आलोचना, व्याकरण, उन्होने जो भी लिखा, उनकी निगाह हमेशा जनता पर रही।

आधुनिक हिन्दी के निर्माता बालमुकुन्द गुप्त की निबन्धावली का प्रथम भाग ही अभी तक प्रकाशित हुआ है। इसका प्रकाशन भी उनके पुत्र नवलकिशोर जी गुप्त तथा झावरमल्ल शर्माजी और बनारसीदासजी चतुर्वेदी के प्रयत्न से सम्भव हुआ है। साहित्य अकादमी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन और नागरी प्रचारिणी सभा, काशी गुप्तजी तथा उस युग के अन्य लेखकों की रचनाओ का विशेष रूप से उनके गद्य का—संग्रह प्रकाशित करें, तो हिन्दी को बड़ा लाभ होगा। उस गद्य से हम

बहुत कुछ सीख सकते हैं। उस युग के प्रति बहुत से विद्वानों का अज्ञान अक्षम्य है। हिन्दी के विकास पर लाखों रुपये खर्च हो रहे हैं। और जिन्होंने उसकी नींव डाली, उनकी रचनाएँ असकलित पड़ी हैं।

१८ सितम्बर, १९०७ को दिल्ली में लाला लक्ष्मीनारायण की धर्मशाला में गुप्तजी का देहान्त हुआ। उस समय वह बयालीस वर्ष के भी न हुए थे। यह उनकी अकाल-मृत्यु थी। हिन्दी-सेवा में उन्होंने अपना शरीर गला डाला था। वह भारतेन्दु और प्रतापनारायण मिश्र के सच्चे उत्तराधिकारी थे। उनके गद्य पर कहीं रोग-शोक की छाया नहीं है। उसमें दासता के बन्धन तोड़ने को उठते हुए अभ्युदयशील राष्ट्र का आत्मविश्वास है। उनके गद्य में भारतेन्दु युग की वह जिन्दादिली है जो विपत्तियों पर हँसना चाहती थी, जिसके नीचे छिपी हुई व्यथा बहुतों की आँखों से ओझल रहती है।

उस युग में, जब देवनागरी को सरकारी नौकरियों के उम्मीदवार पूछते न थे, जब अंग्रेजी सरकार सन् सत्तावन से सबक सीखकर हिन्दी-भाषी जाति में हर तरह से विघटन के बीज बो रही थी, जब आधुनिक हिन्दी साहित्य का आरम्भ हुए पच्चीस-तीस साल ही हुए थे, बालमुकुन्द गुप्त ने संसार की भाषाओं में हिन्दी का स्थान निर्दिष्ट करते हुए लिखा था—

"अंग्रेज इस समय अंग्रेजी को ससार-व्यापी भाषा बना रहे हैं और सचमुच वह सारी पृथिवी की भाषा बनती जाती है। वह बने, उसकी बराबरी करने का हमारा मकदूर नहीं है, पर तो भी यदि हिन्दी को भारतवासी सारे भारत की भाषा बना सकें, तो अंग्रेजी के बाद दूसरा दर्जा पृथिवी पर इसी भाषा का होगा।" आज पृथिवी पर अंग्रेजी का उतना प्रसार नहीं है, जितना पचास साल पहले था। लेकिन जितना है, उतना प्रसार बनाये रखने में अंग्रेजी प्रेमी भारतवासियों का हाथ सबसे ज्यादा है। संसार की पाँच सबसे ज्यादा बोली और समझी जानेवाली भाषाओं में हिन्दी का स्थान है। उसे संसार की भाषओं में अपना सम्मानप्रद स्थान अवश्य मिलेगा, लेकिन तब जब भारत में पहले अंग्रेजी का प्रभुत्व समाप्त हो। इस प्रभुत्व को समाप्त करने के लिए जो भी संघर्ष करते हैं, उनके लिए बालमुकुन्द गुप्त का जीवन और साहित्य बहुत बड़ी प्रेरणा हैं।

# ६ | निराला—अपराजेय व्यक्तित्व : रचनात्मक और ध्वन्सात्मक तत्व

एक साहित्यिक बन्धु ने निराला के व्यक्तित्व पर पुनर्विचार करने की प्रेरणा देते हुए मुझे लिखा है : "पिछले दो एक वर्षों में कुछ प्रतिष्ठित लेखकों द्वारा यह संकेत दिया गया कि निराला जी के व्यक्तित्व में अनेक सीमाएँ भी थीं। ऐसे अनेक संकेतों में कई बार शिकायत का स्वर ही रहा है और कभी-कभी दबे हुए मनोमालिन्य का भी। हम (और आप भी) इस मनोमालिन्य को प्रश्रय नहीं देते, किन्तु हमें यह अवश्य लगता है कि स्वयं निराला ने ही निर्भीक चिन्तन की जो परम्परा स्थापित की थी, उसका अनुसरण करते हुए अब समय आ गया है कि उस कल्पित वीर पूजा की भावना से मुक्त होकर हम सहज मानवीय धरातल पर निराला का सन्तुलित पुनर्मूल्यांकन कर सकें। उनके व्यक्तित्व के कौन से अंश अपराजेय और अदम्य थे तथा कौन से अंश ध्वन्सात्मक और निषेधात्मक। वे ध्वन्सात्मक और निषेधात्मक अंश किस अंश तक उनके विद्रोही व्यक्तित्व को उभार पाये थे और क्या किन्हीं अंशों में उन्होंने उनके व्यक्तित्व के रचनात्मक गठन में क्षति भी पहुँचाई थी ?"

इसमें सन्देह नहीं, निराला का व्यक्तित्व विद्रोही था; उन्होंने निर्भीक चिंतन की परम्परा स्थापित की, निराला-सम्बन्धी लेखों में तथ्य-निरूपण और साहित्य मूल्यांकन की अपेक्षा व्यक्तिपूजा की भावना अधिक रही है। और इसमें किसे सन्देह हो सकता है कि उनके व्यक्तित्व की सीमाएँ थीं। किसके व्यक्तित्व की सीमाएँ नहीं होती ? क्या ही अच्छा हो कि हम उनके व्यक्तित्व से रचनात्मक अंश ग्रहण कर लें—और इस प्रकार स्वयं अपराजेय बन जाएँ; निषेधात्मक और ध्वन्सात्मक अंश त्याग दें, निराला के दुख के साथ इन सब त्याज्य अंशों को सदा के लिए उनकी चिता पर भस्म हो जाने दें।

किन्तु अभी निराला का सम्पूर्ण साहित्य संकलित और प्रकाशित नहीं हुआ। उनके पत्रों का संग्रह नहीं हुआ ; उनकी जीवनी लिखी नहीं गयी। न केवल व्यक्तित्व को लेकर, वरन् उनके साहित्य के सम्बन्ध में भी किंवदन्तियाँ ही अधिक

प्रचलित रही हैं; कुछ निन्दात्मक और कुछ प्रशंसात्मक, कुछ उनके जीवन काल मे ही और बहुत कुछ उनके निधन के उपरान्त।

मैं विश्वासपूर्वक नही कह सकता कि निराला के व्यक्तित्व के पुनर्मूल्यांकन—और सही मूल्यांकन—का समय अब आ गया है। जिन तथ्यों के आधार पर यह पुनर्मूल्यांकन सम्भव होगा, वे निराला-सम्बन्धी अनगिनत संस्मरणों में अप्राप्य हैं। इसलिए मेरे इस छोटे-से लेख की सीमाएँ स्पष्ट ही हैं, निराला के व्यक्तित्व की सीमाएँ जो भी हों।

निराला सम्बन्धी किंवदन्तियाँ और सस्मरणों में जो बात सबसे अधिक उजागर होकर दिखायी देती है, वह उनकी करुणा और दानशीलता है। उनका हृदय अत्यन्त परदुखकातर था; धन-वस्त्र जो कुछ पास हुआ, उसे देकर दूसरे का दुःख दूर करने मे उन्हें तनिक भी आगा-पीछा न होता था। उन्होंने श्री रामकृष्ण परमहंस से दरिद्र नारायण की सेवा करना सीखा था; उन्होंने दीन-दुखियों में ब्रह्म के दर्शन करके वेदान्त की चरम परिणति की थी।

निराला के धन का व्यय केवल दीन दुखियो पर न होता था; वे मित्रो, अतिथियों, दार्शनार्थियों पर भी—जो न दीन थे, न दुखी—काफी धन व्यय करते थे। फलों और मिठाइयों से तृप्त होने वाले अधिक थे; किन्तु कुछ अन्तरंग बन्धु "तुम सुरापान घन-अन्धकार" का मन्त्र जपते हुए साहित्य से भिन्न एक अन्य लोकोत्तर रस में डूबकर अपनी निराला-भक्ति का परिचय देते थे। किसी को साड़ियाँ, किसी को दुशाले, किसी को अन्य ऐसी ही कोई वस्तु भेंट करना उनके राजसी स्वभाव का अंग था। आपने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बारे में भी ऐसी कहानियाँ जरूर सुनी होंगी। फर्क इतना था कि हरिश्चन्द्र सेठ अमीचन्द के घराने में पैदा हुए थे और निराला के पिता महिषादल के राजा के यहाँ जमादार थे।

महिषादल के राजा, वहाँ के राजकुमार, आज से पचास साल पहले का वैभव; एक तो राजा, फिर ब्राह्मण, चारों ओर दण्डवत-प्रणाम का वातावरण; विशाल प्रासाद, बड़ी-बड़ी ड्योढ़ियाँ, बन्दूकधारी रक्षक, मीलों क्षेत्र घेरे हुए पार्श्व-भूमि, प्रासाद भूमिकी सीमा के बाहर एक ताल के किनारे पण्डित रामसहाय तिवारी का कच्चा घर, जिसका अब महिषादल में नाम-निशान भी नहीं है। अंग्रेजी, बंगला संगीत की शिक्षा पाने वाले महिषादल के राजकुमार, अपनी प्रतिभा की अग्नि से झुलसता हुआ हाई स्कूल फेल बालक सुर्जकुमार।

जब प्रथम महायुद्ध के उपरान्त निराला की पत्नी, चाचा आदि परिवार के अधिकांश सदस्य नहीं रहे—माता का बचपन में; पिता का लड़कपन में देहान्त पहले ही हो चुका था—तब उन्हें चाहिए था कि अपने नन्हे भतीजों और पुत्र-पुत्री का पेट पालने के लिए वे महिषादल में नौकरी करते रहते। किन्तु विश्व-विद्यालयों की डिग्री तो दूर, निराला हाई स्कूल की परीक्षा तक न पास करने

पर भी महिषादल की नौकरी छोड़ केवल लेखनी के सहारे जीविकोपार्जन का भरोसा करके साहित्य के कुरुक्षेत्र में महारथियों के बीच पैदल ही आगे बढ़ चले। महाभारत का कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र भले रहा हो, साहित्यक्षेत्र तो निराला के लिए सूकर खेत ही था। यह बात अलग है कि तुलसीदास की तरह निराला के ज्ञान-नेत्र इस सूकर खेत में ही खुले।

अस्तु; साहित्य के क्षेत्र में आये ही थे तो निराला को चाहिए था कि लोगों को साथ लेकर चलते; यदि रत्नाकर की तरह नहीं तो मैथिलीशरण गुप्त की तरह "सरस्वती" के लिए सरल-सुबोध कविताएँ लिखते। किन्तु यह सब उन्होंने नहीं किया, साहित्य में तरह मिलाने के बदले वे साहित्यकारों को तरह देते रहे। लोगों ने बदला लिया। निराला ने भी पैंतरे दुरुस्त किये। मार खायी और मारा भी। निराला को यथेष्ट मान-सम्मान मिला। कारण यह कि लाख विरोध के बावजूद वे अपनी ही लीक पर चले। आप चाहें तो रचनात्मक अंशों में इस तत्व को नोट कर लें कि निराला अपनी कला के प्रति हमेशा सच्चे रहे; इसीलिए उन्हें इतना नाम और यश मिला। लेकिन आप इस समस्या पर भी विचार करें कि महिषादल की नौकरी करते हुए, सम्पादकों-साहित्याचार्यों, तत्कालीन महाकवियों से श्रद्धा-सम्बन्ध कायम रखते हुए निराला अपनी कला के प्रति किस हद तक सच्चे रह सकते थे।

क्या ही अच्छा होता कि निराला को जो मान-सम्मान मिला, उससे वे सन्तुष्ट हो जाते, अधिक की कामना न करते। किन्तु हाय री यशोलिप्सा! जो मान-सम्मान मिला, उससे वे सन्तुष्ट नहीं थे। इससे भी दुखद बात यह कि विरोधी आलोचना से जितना वे क्षुब्ध होते थे, उतना प्रशंसात्मक आलोचना से प्रसन्न नहीं। विरोधी आलोचना कितनी ही क्षुद्र और तर्कहीन हो निराला के लिए वह कभी महत्वहीन न होती थी। किसी ने "माधुरी" में लिखा, निराला ने टैगोर की नकल की, मगर असफल रहे; किसी ने "विशाल भारत" में छायावादी कवियों के लिए लिखा, इन्होंने हिन्दू महासभा से अधिक भारतीय समाज का अहित किया; किसी ने "विश्वभारती" पत्रिका में एक लेख अंग्रेजी में लिखा और घोषित किया कि साहित्यकार के रूप में निराला मर गये।

इस तरह का कोई भी फतवा उन्हें कई दिनों तक व्यथित रखने के लिए काफी होता था।

लखनऊ के मकबूलगंज मोहल्ले में एक दिन सवेरे आये। बिना किसी भूमिका के बोले—इसे ठीक करना है। मैंने पूछा—किसे? उन्होंने कहा—वही, तुम्हारा मित्र मुख्यव्यादान सिंह। इस पर भी जब मैं न समझा तो बोले—वही जिसने "विशाल भारत" में प्रगतिशील साहित्य पर लेख लिखा है।

हीवेट रोड पर रेस्तरां में काफी देर तक चुपचाप चाय पीते रहने के बाद

बोले—"गधे उसके बराबर हैं नहीं, लेख लिखने चले हैं।" मालूम हुआ, यह संकेत "माधुरी" के लेखक की ओर था, जो कद में निराला जी की टाँग के बराबर थे।

इलाहाबाद मे हाई कोर्ट के पास वाली सड़क पर शाम को टहलते हुए बोले—"मैने कहा, बहुत शायरी छाँटोगे तो अभी मुसरा खड़ा करेंगे।"

(यानी सरके बल खड़ा करेंगे।) यह इलाहाबाद के एक बदनाम शायर के प्रति उनकी उक्ति थी, जिन्होंने निराला समेत समस्त हिन्दी के कवियों की रचनाओं को पागलों की बड़बड़ाहट कहा था।

इलाहाबाद के एक सम्पादक के लिए उन्होंने कहला भेजा था—तुम्हारे लिए चमरौधा भिगो रखा है।

यह समस्त हिंसा शब्दों तक सीमित थी। उन्होंने दो प्रकाशकों को भी पीटा था, यह मुझे मालूम है। किन्तु किसी भी विरोधी साहित्यकार पर उन्होंने हाथ नहीं उठाया, चमरौधा उठाना तो बहुत दूर की बात थी। शब्दों के माध्यम से क्षोभ एक हद तक निकल जाता था, किन्तु पूरी तरह नहीं। मन में कल्मष रह ही जाता था। निराला इसे खार कहते थे। आईने में चेहरा देखकर कहते थे, अब वह बात नहीं है, खार छा गये हैं।

कल्पना कीजिए कि निराला ने व्यक्तिगत आक्षेप करने वाले किसी एक लेखक पर भी आवेश में अपना वरद हस्त रख दिया होता तो उनके विरोधियों की संख्या कितनी कम हो गयी होती, उनका क्षोभ कितना शान्त हो गया होता। किन्तु यह सब होना नहीं था। उनके व्यक्तित्व की सीमाएं जो थीं।

परिणाम यह कि विरोधी आलोचना से क्षोभ बढ़ा, उसी परिमाण में मान-सम्मान की आकांक्षा बढी। निराला के अहंकार को कौन नही जानता? गवर्नर मुंशी निराला से मिलना चाहते हैं? मिलना चाहते हैं, तो ऊपर आ जायें। निराला नीचे उतरकर उनसे मिलने क्यों जाये?

निराला को पद-पद पर अपमानित होने की आशंका रहती थी। सम्मान-रक्षा की भावना कभी-कभी असन्तुलित अहंकारकी व्यंजना-सी लगती थी। काश उनमें यह अहंकार न होता! वेदान्ती निराला इस अहं भावना से परे होते! किन्तु भवभूतिकी पंक्तियां वे बड़े प्रेम से दोहराया करते थे :

उत्पत्स्यते च मम कोऽपि समान धर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।

और इसके समर्थन में गालिब की यह पंक्ति भी वे गुनगुनाते थे :

हम सुखनफहम हैं गालिब के तरफदार नहीं।

उनका अहंकार उनका कवच था। इसी के सहारे वे समाज के सम्मान प्राप्त सज्जनों और साहित्य के कर्णधारों के विद्रूप का सामना करते थे। वे यह कवच

उतारकर फेंक सकते थे, किंतु तब वे सन्यासी होते, कवि नहीं। अहंभाव—प्रच्छन्न अथवा प्रकट—बहुतों मे है। किन्तु इस अहंभाव के साथ निराला का सा कवित्व कितनों मे है? निराला जैसा है, वैसा ही ग्रहण करना होगा—अपने समस्त क्षोभ, अहंकार, मान-सम्मान की आकांक्षा के साथ। समाज के लिए जो विष है, साहित्य के लिए उसी से निराला ने अमृत प्राप्त किया था।

जीवन के अन्तिम चरण में जब निराला का तन-मन जर्जर हो गया था, तब उनकी मान-सम्मान की भावना, उनका अहकार अनेक विकृत रूपों में प्रकट होता था। बहुतो ने इस बात को देखा-सुना और लिखा है कि निराला अक्सर अंग्रेजी बोलने लगते थे। जिस व्यक्ति ने आजीवन हिन्दी साहित्य की साधना की थी, जो हिन्दी के सम्मान के लिए आजीवन लड़ा था, वह अन्तिम प्रहर में अंग्रेजी बोलने में गौरव का अनुभव करता था। किन्तु निराला को गौरव मिलता तो कैसे? किस उपाय से गौरव की आकांक्षा पूरी होती? जीवन भर हिन्दी लिख-कर देख लिया। अब अंग्रेजी बोलकर देखो। आखिर देश में जितने पुजने-पुजाने वाले बड़े आदमी हैं, वे अंग्रेजी का व्यवहार करते हैं या नहीं? जवाहरलाल नेहरू सबसे ज्यादा अभिनन्दित; अंग्रेजी लिखने-बोलने के लिए उतने ही प्रशं-सित। तब निराला अंग्रेजी न बोले?

प्रश्न यह था कि समाज में प्रतिष्ठा कैसे मिले? साहित्यिक रूप में वे महान हैं, इसका उन्हें विश्वास था। अपने कल्पना-लोक में वे न ग़ालिब बनते थे, न रवीन्द्रनाथ, न तुलसीदास। वे अपने को इनसे घटकर न मानते थे; अपने को छोटा मानते थे, केवल सन्यासी से। वे अपने मनोलोक में स्वामी विवेकानन्द से छोटे थे, रवीन्द्रनाथ ठाकुर से नही। इसलिए अपने सपनों में उन्होंने कभी अपने को रवीन्द्रनाथ या तुलसीदास कल्पित नहीं किया; वे भीतर-बाहर निराला ही रहे। किन्तु रवीन्द्रनाथ और जवाहरलाल की तरह वे विलायत यात्रा कर आये थे, लार्ड घराने के लोग, स्वयं महारानी विक्टोरिया उनका अंग्रेजी बोलना सुनकर चकित रह गयी थीं। ऐसे थे उनके सपने।

समाज में सम्मान मिला अंग्रेजी लिखने-बोलने वालों को, इनके अलावा उन्हें मिला जो राजा हैं, धनवान हैं। जो पास में होता था, निराला उसे तो राजा की तरह दे ही देते थे, जो दूसरों का है, कल्पना में अपना मानकर उसका भी दान कर देते थे। जब बनारस में उनकी पचासवीं वर्षगांठ का समारोह हो रहा था, तब गंगा में नाव की सैर करते हुए उन्होंने किनारे की कई आलीशान इमारतें—मित्रों के अनुसार श्री घनश्यामदास बिड़ला की इमारतें—दिखाकर मुझसे कहा था—"तुम्हारे लिए अपनी रायल्टी से मैंने ये इमारतें बनवा दी हैं।"

काश वे समझते कि इन इमारतों का मूल्य उनके साहित्य की तुलना में कुछ भी नहीं है। किन्तु वे महिषादल में पैदा हुए थे, उन्होंने राजकुमारों का वैभव

देखा था, और उनके पिता वहाँ सिपाहियों के जमादार थे।

पैसा हाथ का मैल है, धन मिट्टी है—इस सत्य को निराला सन्यासी की तरह समझते थे। समाज मे मान-सम्मान पैसे से मिलता है, धन की चकाचौंध मे मनुष्य के सब दुर्गुण छिप जाते हैं, इस सत्य को निराला किसी भी संसारी की अपेक्षा अधिक समझते थे। देश का भविष्य हिन्दी के साथ जुड़ा हुआ है, किन्तु वर्तमान में तो राजभाषा अंग्रेजी ही है, निराला ये दोनों बातें जानते थे। अहंकार, क्षोभ, मान-सम्मान की भावना क्षुद्र है, यह वे जानते थे, किन्तु जब बड़े बनने की बात है तब समाज में पुजने वाले लोग मुझसे किस बात में बड़े हैं, वह चुनौती देने खड़े हो जाते थे।

बड़े आदमियों के बीच में ही उनके बड़प्पन का भाव जाग्रत होता था। दारागंज की तंग गली के सामने कोठी देखकर ही उन्हें महिषादल के राजप्रासादों की याद आती थी। लखनऊ में हीवेट रोड के फुटपाथपर बैठी हुई भिखारिन को देखकर उनके बड़प्पन के भाव उस "देवी" में समाहित हो गये थे। कुल्ली के गांव में अछूत बालकों को दूर से ही दोनों में फूल रखकर जाते देख उनकी आँखें छल-छला आयी थीं। लखनऊ में कांग्रेस-पण्डाल के बाहर नंगे पाँव, भूखे पेट एक दक्षिण भारतीय युवक में उन्होंने भारत की आत्मा के दर्शन किये थे। उनके व्यक्तित्व की विशेषता यह थी कि साधारण, उपेक्षित और दुखी जन को देखकर वे अपनपौ खो बैठते थे।

छोटे आदमियों के बीच वे कभी अंग्रेजी नहीं बोले।

अब यह विशेषता रचनात्मक है या ध्वन्सात्मक, आप स्वयं तय करें।

●

# ७ | हिन्दी भूषण बाबू शिवपूजन सहाय

वे पुरानी पीढ़ी के बुजुर्ग साहित्यकार थे। उम्र में निराला जी से बड़े थे। 'हंस' में एक चित्र छपा था जिसमें वे मुंशी नवजादिकलाल के साथ कुर्सी पर बैठे हैं और निराला जी पीछे खड़े हैं। जवान, नौजवान और अधबैसू (प्रौढ़वय वाले) साहित्यकार उनसे मिलते थे, तो उनकी सज्जनता, उनकी शिष्टता और विनम्रता से बेहद प्रभावित होते थे। लेकिन वे पुरानी पीढ़ी के बुजुर्ग साहित्यकार थे; उनका रंग-ढंग समझना आसान नहीं था।

काशी में निराला जी के साथ उन्हें देखकर उनकी विनम्रता के सम्बन्ध में मेरी आस्था को पहला झटका लगा। वे खूब प्रसन्न थे, अनेक बार मिलने पर उन्हें उतना प्रसन्न कभी नही देखा। उस प्रसन्नता में वे एक दिन के लिए अपनी विनम्रता भूल गये थे। निराला जी के प्रति उनका व्यवहार सहज मित्र जैसा था। वे एक युगप्रवर्तक महाकवि के साथ हैं, महाकवि ब्राह्मण हैं, इसलिए कायस्थ गद्य लेखक के लिए परमपूज्य हैं, इस सबका उन्हें ध्यान था; श्रद्धा के अतिरेक की छाया भी कहीं दिखाई न देती थी। जब किसी तरुण साहित्यकार से मिलते, तब क्षण भर के लिए विनम्रता लौट आती मानो कहते—आप महान, मैं आपकी चरणरज, मुझ पर कृपा दृष्टि रखिए! किन्तु क्षण भर बाद फिर उसी प्रसन्नता में खो जाते मानो निराला जी की कृपा दृष्टि की उन्हें तनिक भी चिंता न हो। मानो यह कोई दूसरा शिवपूजन था जिसने सखा-भाव से निराला को अपने ब्याह का न्योता भेजते हुए—हल्दी के छींटों से अभिषिक्त पोस्टकार्ड पर लिखा था : "यह मेरे शुभ विवाह का सादर सप्रेम निमन्त्रण है। कृपया सहर्ष स्वीकार करके सोत्साह पधारिए। ता० २० मई (१९२८) को १२ बजे दिन की गाड़ी से बनारस छावनी स्टेशन पर काशी की मित्र मण्डली प्रस्थान करेगी।"

जैसे गर्भवती सधवा छिपाना चाह कर भी अपनी प्रसन्नता छिपा नहीं पाती, वैसे ही हिन्दी-भूषण बाबू शिवपूजन सहाय निराला पर अपने अतुल अधिकार और स्नेह की प्रसन्नता को छिपाने में असमर्थ थे।

उनकी विनम्रता एक कवच है जिससे साहित्य-जगत के आँधी-बवण्डरों से वे अपनी रक्षा करते हैं। यह बात अस्फुट भाव-बीज बनकर मन की पर्त्तों में छिपी रही और क्रमशः स्पष्ट विचार के रूप में मूर्त्त होकर कई वर्षों के बाद प्रत्यक्ष हुई।

मैं सन् '४२ से उनके पीछे पड़ा था कि वे निराला जी के सम्बन्ध में अपने संस्मरण लिख डालें। उन्होंने उत्तर दिया था, श्री महा शिवरात्रि संवत् १९९९ के अपने पत्र में—"श्री निराला जी के विषय में मैं यदि लिखूंगा तो हिन्दी-संसार उसे पसन्द न करेगा। लोक-रुचि के लिए वह रोचक न होगा, सह्य भी न होगा।" मैंने लिखा कि मैं उनके पास संस्मरण लिखने आ सकता हूँ; एक बार सारी चीज लिपिबद्ध हो जाय, उसे प्रकाशित चाहे जब करायें। उन्होंने उत्तर दिया—"आप इधर आने का कष्ट क्यों करेंगे। मैं ही सोच रहा हूँ। पूज्य निराला जी से भी भेंट हो जायगी। अनेक वर्षों पर उन्होंने स्वयं मेरे घर यहाँ पधार कर दर्शन देने की कृपा की थी। पर उनका स्वागत न बन पड़ा। स्वागत करने वाली तो स्वर्ग चली गयी। किन्तु निराला जी मुझ पर उसी समय से बड़ा स्नेह रखते हैं जिस समय से उनका परिचय हुआ—आज से बीस बरस पहले। इस दीर्घकाल के अन्दर अनेक उलट-फेर हुए। बहुत-सी स्मृतियाँ धुँधली पड़ गयीं। कितने ही नाम भूल गये। घटनाओं का क्रम भी अस्त-व्यस्त होकर दिमाग में पड़ा है। सबकी कड़ियाँ जोड़ने का उपक्रम कर रहा हूँ। मैं आपकी सेवा में लिख-लिखकर भेजता जाऊँगा। जब जो याद पड़ जाय, लिखता जाऊँगा।" यह पत्र उन्होंने रंगभरी एकादशी, १९९९ को लिखा था।

कहना न होगा कि उन्होंने कुछ भी लिखकर न भेजा। कुछ दिन पहले उन्हें भय था कि जो कुछ लिखेंगे, वह लोगों को सह्य न होगा; अब वह धुँधली स्मृतियों के सहारे जब जो याद पड़ता जायगा, लिखते जायेंगे—यह बात विश्वास करने योग्य न थी। इसी पत्र में उन्होंने आगे फिर लिखा था—"कठिनता यही है कि कुछ स्वर्गीय मित्रों की आत्मा को भी कष्ट पहुँचाना पड़ेगा, तभी कटु सत्य प्रकट हो सकेगा। जीवितों से अधिक उन्हीं की चिन्ता है। अच्छा, अब तो जो भी हो।"

वास्तव मे उन्हें प्रेतबाधा का भय न था, भय था सजीव भूतों से। वे वर्षों तक दर-दर भटककर यह सीख चुके थे कि वर्तमान समाज मे सच बोलने से बढ़कर दूसरा पाप नहीं है। निराला का चित्र उनके सामने था; दूसरा निराला बनने के लिए वे जरा भी उत्सुक न थे। अपने अन्तिम दिनों मे—विशेषकर निराला जी के निधन के बाद—उन्होंने बहुत-से संस्मरण लिखे। सचाई यह है कि उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह आंशिक सत्य है; महत्वपूर्ण कटु सत्य को प्रकट न करने में ही उन्होंने बुद्धिमानी समझी।

वर्तमान समाज-व्यवस्था में सत्य पर पर्दा डालने के लिए किसी डिक्टेटर के

आदेशों की जरूरत नहीं है। समाज के निहित स्वार्थी जन साहित्यकार को बाध्य करते हैं कि वह अपनी खैर चाहता हो तो सचाई के पीछे बहुत न पड़े।

महाशिवरात्रि वाले पत्र में उनका अन्तिम पैराग्राफ इस प्रकार है, : 'उनके विरुद्ध प्रचार' और 'उनके जीवन-संघर्ष' आदि पर आप जो उचित समझें, लिखें; पर उसमें मेरी सहायता न लें तो अच्छा होगा। कारण, कितने ही ऐसे कठोरतम और कटुतम सत्य प्रकट करने पड़ेंगे, जिनसे बहुतों का आत्महनन होगा और कुछ लोगों की आत्मा मुझे शाप देगी तथा कई जीवित सज्जन मानहानि के लिए मुझे उजाड़ डालेंगे। मैं दुनिया में बसने न पाऊँगा। 'कलकत्ता वाले साहित्यिक और असाहित्यिक जीवन' के विषय में लिखते समय ज्वलन्त सत्य को छिपाना कष्टकर प्रतीत होगा; पर उसे व्यक्त करना भी मौत बुलाना होगा।"

इसमे एक भी शब्द अत्युक्तिपूर्ण नही है। ये बातें उन्होंने टालने के लिए न लिखी थीं। उन्हें जीवन में इतना त्रास मिला था, गृहस्थी के भार से वे इतने दबे हुए थे, जीविका के लिए उन्हें इतना अथक परिश्रम करना पड़ता था कि कटु सत्य प्रकट करना सचमुच मौत बुलाना ही था।

उन्होंने शरीर को गलाकर किस तरह परिश्रम किया था, यह उन्होंने अपने प्रकाशित साहित्य में नहीं लिखा। आत्मीयतापूर्ण पत्रों में कहीं-कहीं उसकी झलक मिल सकती है। २९ मार्च १९५९ के पत्र में उन्होंने लिखा था—"लिखने की इच्छा रहते भी कार्यव्यस्तता और अस्वस्थता के कारण मन की बात मन में ही रह जाती है। आँखों से भी लाचार हो गया हूँ। स्मृतिशक्ति भी दिन-दिन क्षीण होती जा रही है। बहुत ही अधिक, अतिरिक्त परिश्रम से तन-मन की क्षमता क्षीण हो गयी। परिस्थिति से विवश होकर शरीर को अत्यधिक रगड़ना पड़ा। मस्तिष्क और नेत्र पर जबरदस्ती करने का फल अब भुगत रहा हूँ।"

तिल-तिल कर शरीर का छीजना, परिस्थितिवश आँखों से आवश्यकता से अधिक काम लेना, रोगी शरीर को अन्त समय तक विश्राम न देना, उनकी विनम्रता के नीचे छिपा हुआ उनका कठिन जीवन-संघर्ष, उनकी अपार थकन और निस्सीम वेदना उनके अधिकांश प्रशंसकों की दृष्टि से ओझल रहती थी। क्षीण दृष्टि वाले बाबू शिवपूजन सहाय के नेत्रों के सामने, पटना की एक गली में तख्त पर लेटे हुए अतीत के चित्र झिलमिलाते-से आते थे और उमड़ते हुए आँसुओं में डूब जाते थे। गंगापर नौका-विहार, प्रसादजी का साथ, निराला का संगीत...

"निरालाजी के दर्शन और सत्संग के लिए प्राण तरसते हैं। उनके स्नेह का स्मरण नेत्रों को सजल और हृदय को विह्वल कर देता है, पर रोगी शरीर ने मन को पंगु कर दिया है। आपने उनके द्वारा 'रामचन्द्र कृपालु भजु मन' के गाये जाने की याद करा दी। वही पद उन्होंने काशी उत्तरवाहिनी गंगा में बजरे पर गाकर

सुनाया था। महाकवि प्रसादजी भी थे। हारमोनियम पर अजन्ता गुफा की सी अँगुलियाँ थिरकने लगीं और अजन्ता के मंदिरों के चित्र जैसे नेत्रों के सामने मण्डराने लगे। प्रसादजी साश्रु नेत्रों से उन्हें निहारते ही रहे।" (२९ मार्च,' ५९ का पत्र)

शिवपूजनजी मतवाला-मण्डल के अन्यतम सदस्य थे। 'मतवाला' और 'जागरण' में अपनी चुटीली हास्यरस की टिप्पणियों के लिए वे विख्यात थे। 'साहित्य' की एक टिप्पणी मे उन्होंने रूपनारायण पाण्डेयजी का ऐसा शब्द चित्र आंका था जो किसी बहुत ऊँचे दर्जे के कलाकार के लिए ही सम्भव था। वे कलाकार थे। कलाप्रेमी थे। कलाकारों के भक्त थे। अपनी बातचीत में इस कलाप्रियता का परिचय देते थे। निरालाजी की तरह आनन्द और उल्लास, व्यंग्य-विनोद और परिहास से उन्हें सहज स्नेह था। ज़िन्दगी के थपेड़ो ने उन्हें ध्वस्त करके उल्लास की भूमि में करुणा का स्रोत प्रवाहित किया। निराशा और थकन, अनचाही परिस्थितियों में निरानन्द परिश्रम की वेदना उन्हें अनुभव करनी पड़ी।

"साहित्य-सम्मेलन में राजनीतिक प्रपंच का" अखाड़ा खुल गया है। 'साहित्य' छपकर प्रकाशित हो गया है, पर डाक-टिकट के अभाव से बाहर नहीं भेजा जा रहा है।···

"हिन्दी की साहित्यिक संस्थाओं में चुनाव और अधिकारलिप्सा के कारण अकर्मण्यता व्याप्त हो रही है। यह बड़ी चिन्ता और ग्लानि का विषय है। मैं तो त्यागपत्र देकर उस प्रपंच से अलग हो गया हूँ; केवल 'साहित्य' का काम हाथ में रह गया है। बारहवां वर्ष पूरा करके उसे भी छोड़ने का विचार है। अब शक्ति नही है।" (पहली मई सन् '६२ का पत्र)

यह पत्र मिलने के एक महीने बाद मैंने उनके दर्शन किये। कुछ समय के लिए मतवाला-मण्डल के हास्यरस लेखक बाबू शिवपूजन सहाय उस क्षीण और जीर्ण शरीर मे फिर लौट आये। धुंधली आँखें अन्तर्ज्योति से प्रदीप्त, कण्ठ निराला-संस्मरणों के आनन्द से उच्छसित, विवश करने वाली परिस्थितियों पर नरसिंह के समान आरूढ़ हिन्दी भूषण शिवपूजन।

तख्त पर पडे हुए प्रूफ देखते थे। हाथ का पंखा लिए गर्मी से शरीर की रक्षा करते थे। कभी सम्मेलन के दफ्तर में सवेरे जाकर शाम को लौटते थे। उनका चेहरा देखने से पता न चलता था कि वे दस घण्टे परिश्रम करके उठे हैं। शरीर परिश्रम से इतना कस गया था कि और पसीना निकलने की गुंजाइश न रह गयी थी।

कुछ ही दिन बांद सुना आचार्य शिवपूजन नहीं रहे।

बाबू श्यामसुन्दर दास की तरह उनके नाम के साथ हमेशा बाबू शब्द जुड़ा रहा। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद वे आचार्य हो गये। निरालाजी उन्हें पत्र लिखते

थे तो पते पर उनके नाम के साथ 'हिन्दी भूषण' लिखना न भूलते थे।

हिन्दी भूषण बाबू शिवपूजन सहाय के अक्षर कितने सुन्दर होते थे। जब वह छपरा के राजेन्द्र कॉलिज में अध्यापक थे, तब तो कभी-कभी घसीट भी लिखते थे, यद्यपि अक्षर तब भी बिल्कुल स्पष्ट होते थे। किन्तु जैसे-जैसे आँखों की ज्योति क्षीण होती गयी, उनके अक्षर अपनी रूपरेखा में और भी निखरते गये। गेहूं की भरी बालों पर मोती की तरह चमकती हुई ओस की बूँदों जैसे उनके अक्षर, शब्द से भिन्न और अभिन्न, पत्र को अपने व्यक्तिगत सौन्दर्य से आलोकित करते हैं। निरालाजी के अक्षरो की वक्रता उनमें नहीं है किन्तु सादगी, स्पष्टता और दृढ़ता उनमें ज्यादा है। निरालाजी के अन्तिम दिनों में महाकवि के अक्षर शिथिल बृहदाकार हो गये थे। शिवपूजनजी के अक्षरों में पहले से ज्यादा कसाव आ गया था; ओस की बूंदों जैसे अक्षर, ढली हुई फौलाद जैसे भी थे, साँचे में ढलने के बाद जैसे पत्र पर जम गये हों।

"आँखों ने ज्ञान के द्वार बन्द कर दिये। किसी तरह स्मरण-शक्ति के सहारे 'साहित्य' की टिप्पणियाँ लिख लेता हूँ, नहीं तो सारा काम मेरे आदरणीय मित्र नलिनजी ही करते हैं। आधी आँखो से कभी-कभी आवश्यकता-वश कुछ लिखना भी पड़ता है, तो सन्तोष नहीं होता। आँखों को उत्पीड़ित करके अन्दाज पर पत्र लिख जाता हूँ; पर पता नहीं क्या-क्या लिख गया।" (२६ मार्च, १९६२ का पत्र) इसीलिए कहा, बाबू शिवपूजन सहाय पुरानी पीढ़ी के बुजुर्ग साहित्यकार थे; उनका रंग-ढग समझना आसान नहीं था।



# ८ | ये कोठेवालियाँ

श्री अमृतलाल नागर लिखित 'ये कोठेवालियां' पढ कर मन में तरह-तरह के विचार उठे। कोठेवालियों से पहले मैं उनके जीवन का चित्र आंकने वाले कलाकार के बारे में सोचने लगा।

कलाकार बम्बई की फिल्मी दुनिया में पहुँचने से पहले लेखक-रूप में काफी ख्याति प्राप्त कर चुके थे। तस्लीम लखनवी के नाम से वह 'नवाबी मसनद' लिख चुके थे। 'चकल्लस' साप्ताहिक ने हिन्दी संसार में धूम मचा दी थी, और वृद्ध आचार्य द्विवेदी से सरस सार्टिफिकेट प्राप्त कर लिया था। नागरजी ने 'मरघट के कुत्ते' जैसी कहानी लिखी थी जिसमें सामन्ती समाज का सारा कोढ मानो एक साथ मरघट के अघोरी में फूट पड़ा था। यह कहानी 'माधुरी' में छप चुकी थी। उनकी और भी कहानियाँ हिन्दी की प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में छपीं। उन्हें जयशंकरप्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला और शरच्चन्द्र चटर्जी जैसे साहित्यकारों का सम्पर्क और प्रोत्साहन सुलभ हो चुका था।

इससे अच्छी परिस्थिति किसी लेखक के विकास के लिए और क्या होगी? और यह सब परिस्थिति अँग्रेजी राज में सुलभ थी! अंग्रेज लेखक कभी-कभी सोवियत-संघ मे लेखकों की गुलामी से अंग्रेजी राज में लेखक की सुविधा और स्वाधीनता की चर्चा करते हैं। देखिए, नागरजी अपनी कला का विकास करने में स्वाधीन थे या नहीं।

रोजी की तलाश में नागर जी बम्बई गये—फिल्म में काम करने। यह बात न थी कि कहानी लिखने से वह ऊब गये थे और अब सिनेरियोकला को चमकाना चाहते थे। बात यह थी कि कहानियाँ लिखने से रोजी की समस्या हल न होती थी। अँग्रेजी राज की कृपा से अधिकांश हिन्दी जनता निरक्षर बनी रही। नागरजी के करोड़ों संभाव्य पाठक उनकी कहानियों के पाठ-सुख से वंचित रहे। इसके अलावा पूँजीवादी प्रकाशन-व्यवस्था में—उनके पाठकों की संख्या सीमित रहते हुए भी—उनके श्रम का जो मूल्य उन्हें मिलना चाहिए था, वह उन्हें नहीं मिला।

इस क़ारण लेखन की स्वाधीनता का रस लेते हुए उन्होंने फिल्मी दुनिया का दर-वाज़ा खटखटाया।

फिल्म-निर्माता और सेठ जी में अनबन हुई। कंपनी बंद हो गई। मेहरबान सेठ वेतन दिलाते रहे—सबको नही, केवल नागर जी को : 'वेतन का कुछ भाग मैं अपने पास रखता, बाकी घर भेज देता था।' साथ में उनके दोस्त श्री महेश कौल थे जिन्होंने फिल्मी दुनिया में काफी प्रसिद्धि पाई। कभी-कभी उनके घर से कुछ मदद पहुँच जाती थी, फिर भी 'ज्यों-ज्यों दिन गुजरने लगे हमें खाने के भी लाले पड़ने लगे। हमारे पास इतना ही बजट था कि सुबह एक कप चाय के साथ चार कच्ची स्लाइसें खा लेते थे और शाम को तीन आने मे आधा प्लेट मराठी 'खाणावल' (भोजनालय) का सस्ता मोटा और पानी के घूँटों उतरने वाला चावल। शाम की चाय की तलब हमें अक्सर मारनी ही पड़ती थी। पान-सिगरेट की आदत भी मजबूरी के आगे बुझ गई। पैसे की आठ बीड़ियों में छः का तम्बाकू निकाल कर बीड़ी वाले द्वारा दिए गए मुफ्त के चूने या अक्सर दीवार के चूने को खुरच कर हम सुरती-चूने की चुटकी से पान की तलब मिटाते थे।"

जिस घर में रहते थे, उसी में कोठेवालियों मे से एक लूलू की माँ भी रहती थी। उसकी बात बाद में। सेठ जी चले गये देस। पन्द्रह तारीख को वेतन मिलता था; उसके बाद पन्द्रह दिन और बीत गये। फिर भी वेतन न मिला। "हमारी चार स्लाइसों और शाम के अक्षरशः मुट्ठी-भर मोटे, एक प्रकार के बदबूदार भात का राशन भी खतरे में पड़ गया था···शाम की आधी राइसप्लेट का भोजन भी हमारे लिए चौथे, पाँचवें दिन का पकवान हो गया था। सुबह की चार-चार स्लाइसें दो-दो के हिसाब से सुबह और शाम का भोजन बन गईं। लेकिन समस्या हमारे सामने यह थी कि शाम को दो स्लाइस खा कर पानी पीने से हमारी भूख थोड़ी ही देर बाद और बढ़ जाती थी। उसे रोकने का सरल उपाय यही था कि चाहे सिंगल कप (अर्थात् आधा कप) ही हो, मगर चाय का घूँट बहुत आवश्यक था। चाय के साथ दो स्लाइसें नाश्ता बनकर हमारी भूख को बहला देती थीं। मगर शाम की सिंगल कप चाय ने हमारे पैसे की आठ बीड़ियों में पान-सिगरेट की तलब बुझाने वाला नुस्खा बड़ी गड़बड़ में डाल दिया था।"

इसके बाद की बहुत-सी बातें उद्धृत करने योग्य हैं। उन्हें छोड़ देता हूं, यह सोच कर कि पाठक उन्हें स्वयं पढ़ लेंगे (या पहले ही पढ़ चुके होंगे)। फिल्मी दुनिया में नागरजी ने ठोकरें खाईं, आगे बढ़े, सफलता मिली और फिर लखनऊ वापस आ गये। भारत स्वाधीन हुआ और—"सन १९५० ई० में राष्ट्रपति देश-रत्न राजेन्द्र प्रसाद जी ने यह इच्छा प्रकट की थी कि वेश्याओं से भेंट करके कोई व्यक्ति उनके सुख-दुख का हाल लिखे।"

नागरजी के पत्रकार मित्र ने "प्रेस ट्रस्ट आफ इण्डिया के संवाददाता को यह

सूचना दे दी कि नागर देशरत्न राजेन्द्र बाबू की इच्छापूर्ति के लिए यह काम करेगा।"

नागर जी ने काम सँभाला। लखनऊ मे जो सामग्री बटोर सकते थे, बटोरी। लेकिन स्वाधीन भारत के लेखक की मजबूरियाँ देखिए। अब नागर जी 'बूंद और समुद्र' के यशस्वी लेखक बन चुके थे। मान-प्रतिष्ठा वह सैकड़ों से ज्यादा प्राप्त कर चुके थे। प्रकाशक उनका मुँह जोहते थे। नई-पुरानी पीढ़ियों के लेखक उनके भक्त या मित्र थे। स्वभाव ऐसा कि उनसे अमित्र भाव मुमकिन ही नहीं। साहित्य-जगत् में अभूतपूर्व सफलता पाने वाले हिन्दी लेखक नागर जी ने 'ये कोठेवालियाँ' के पृ० १६९ पर लिखा है। 'साहित्यिक कार्यों की इच्छा और इस मँहगाई के जमाने में गृहस्थी के खर्च की दौड़ मुझे एक साथ और हरदम दो सिरों पर दौड़ाती रहती है।' अर्थात् पूरी तैयारी से पुस्तक लिखने के लिए आवश्यक धन नहीं है। "मैंने अपनी स्थिति से समझौता कर लिया। जब तक उठी हुई समस्या का समुचित समाधान नहीं पा जाऊँगा, तब तक तो उसका पीछा अवश्य करूँगा। यथा-शक्ति धन भी व्यय करूँगा और उसके बाद पेट-पालन हिसाब अपने ज्ञानार्जन प्रोग्राम में कटौती कर जाऊँगा।"

पेट पालने के लिए ज्ञानार्जन-प्रोग्राम में कटौती! फ्रीवर्ल्ड में लेखक की स्वाधीनता के हामियो, सुना आपने ? इस प्रोग्राम में कटौती का मतलब है लेखन में कटौती, कला के रूप-निखार में कटौती! पूँजीवादी व्यवस्था में लेखक इस तरह की 'स्वाधीनता' से टकराता हुआ अपनी कला की साधना करता है!

रूस में समाजवादी क्रान्ति होने के बाद लेनिन ने लिखा था कि वहाँ छोटे पैमाने के उत्पादन का प्रसार होने के कारण जगह-जगह नित्य नये सिरे से पूँजीवाद की उत्पत्ति होती है। यह सत्य नागर जी की पुस्तक मे पूरी गहराई से उभर कर आया है — 'लूलू माँ की कहानी' के सिलसिले में। यह गढ़ी हुई कहानी नहीं, लेखक की आप बीती है।

जिन दिनों नागर जी अपने मित्र श्री महेश कौल के साथ बीड़ी से तम्बाकू निकाल कर सुरती की तलब बुझाते थे, उनके फ्लैट के एक हिस्से में 'लूलू की माँ' आकर रहने लगी। रसोईघर से मिर्च-मसाले की गन्ध बिल्कुल न आयी। छोटा बच्चा लूलू नागर जी के दरवाजे कभी-कभी मुँह में उँगली दबाये आकर खड़ा हो जाता था। फिर एक दिन पति-पत्नी की तीखी कहासुनी की भनक कानों में पड़ी। फिर पतिदेव गायब हो गये। भूखे लूलू को अधभूखे लेखक के मित्र ने रोटी का टुकड़ा दिखाया। 'धीरे-धीरे करके साढ़े तीन स्लाइस बच्चा खा गया। हम समझ गये बच्चा भूखा था, तब माँ भी अवश्य भूखी होगी।" शाम को लौटने पर लूलू ने आकर फिर कहा, 'अंकल ब्रेड'। लूलू की माँ उसे घुड़क कर भीतर ले गई। लेखक और उनके मित्र ने एक डबल रोटी और दो 'सिंगल कप' चाय लेकर पड़ोसिन का

द्वार खटखटाया। उसने कमजोर हाथों से रोटी ले ली, फिर प्याले भी ले गई। और इसके बाद लेखक को ज्वर आ गया।

पति कई दिन बाद लौटा। वेश्यागामियों का एक बंगाली दलाल भी आया। रसोई से *मसालों की गन्ध आई। लूलू की माँ गृहस्थ वेश्या बन गई।* किसी 'गाहक' के आने पर जब 'लूलू निकाला जाता तो धीमे-धीमे हमारा दरवाजा खट-खटाता।···लूलू अपनी भाषा में हमसे बातें करता था···लूलू आता, हमारे कलेजे पर धक्का-सा लगता।"

पूँजीवाद का अर्थ है : एक ओर पूँजी का बटोर, दूसरी ओर भुखमरी का फैलाव। इस गतिशील प्रक्रिया से निरन्तर वेश्यायें उत्पन्न होती हैं, जैसे किसी समय समुद्र-मंथन से अप्सराएँ निकली थीं। संस्कृति के अन्य रत्न भी इसी प्रक्रिया से निकलते हैं। बंगाली दलाल कहता है—'अरे हम तो उपकार किया। भूखा मरता था शाला। हम दाया किया, सोचा भद्र लोक है, अपना हिन्दू भाई है, कष्ट में है।'

यह हिन्दू सस्कृति का रत्न निकला।

लूलू की माँ ने लेखक के कमरे से दरी का लाल रंग बहते देख कर उसे खून समझा और दरवाजा पीट डाला। '*प्रचण्ड आँधी के झोंके की तरह*' कमरे में प्रवेश किया।

यह ममता का एक प्रमाण था। बाहर बरसात, सागर अपनी मर्यादा तोड़कर बस्ती की सीमा में प्रवेश कर रहा था। आलंकारिक रूप में नहीं, बम्बई के समुद्र का पानी सचमुच बस्ती में फैल रहा था। "आज तो चाय तक के लाले पड़े हुए थे, *क्योंकि बरसात इतनी तीखी थी कि नीचे पहुँचने की भी हिम्मत न होती थी।* थोड़ी देर बाद ही हमने आश्चर्य से देखा कि पड़ोसिन चाय के दो प्याले लिये हुए हमारे दरवाजे पर खड़ी हुई हैं।'

यह ममता का दूसरा प्रमाण था। यह चाय लूलू की माँ ने अपनी देह बेचकर खरीदी थी, और अपने परोपकारी मित्र के आड़े समय उन्हें देने आयी थी।

ऐसी ममतामयी नारी को वेश्या बनना पड़ा। किसी चकले*में जाकर नहीं, ऐन पंडित अमृतलाल नागर और पं० महेश कौल के फ्लैट के एक हिस्से में। क्योंकि पूँजीवादी कारखाने में भुखमरी-मशीन की सहायता से वेश्या नामक वस्तु हर वक्त ढाली जाती है!

यदि लूलू की माँ और बन्ने मुनीर की कहानियों के स्तर पर यह सारी पुस्तक लिखी जाती तो वह हिन्दी ही नहीं, विश्वसाहित्य में अद्वितीय होती। ये दो कहा-नियाँ पढ़कर मुझे 'देवी' और 'चतुरी चमार' के लेखक निराला की याद आयी, '*क्या से क्या*' के लेखक पढ़ीस और '*जीवन मार्ग*' के लेखक मक्कारेंको की याद आई। करुण रस की बहुत-सी कविताएँ पढ़ी हैं, लेकिन लगा कि 'दान्ते' का नरक

बद्रे मुनीर की यातना के आगे कल्पना मात्र है।

"कमर से लेकर नाभि के ऊपर तक तो पकी फुंसियों और उनके घावों के छत्ते-के-छत्ते दिखलायी देते थे। बद्रे मुनीर अपने रोग से जो कष्ट पा रही थी वह तो था ही, उधार के तानों, गालियों और निकाल देने की धमकियों से उसे घनघोर कष्ट हो रहा था। बद्रे मुनीर को अपने कष्ट में जाने कैसे मेरा नाम याद आया!"

एक बार गोर्की जब लड़का था, "मालिक ने उसे मारा था। पीठ में कँटीले बेंत के काँटे टूट गये थे। पीठ देखकर डाक्टर ने पूछा भी—'मालिक पर मुकदमा चलाओगे?' गोर्की ने जवाब दिया—"नहीं, सिर्फ काँटे निकाल दीजिए।"

उसी तरह बद्रे मुनीर—"वह लगभग सत्तर रुपये की कर्जदार थी। वह कर्ज से मुक्ति चाहती थी, रोगमुक्त होने की उसे लालसा नहीं थी, क्योंकि वह अपने अन्तर्मन से मृत्यु का आभास पा चुकी थी।"

जब लेखक चलने लगा तो उसने कहा—'मैं कहती थी, खुदा नहीं है—खुदा है—खुदा है।"

*दुख की कितनी गहराई से खुदा का नाम निकाला था यहाँ। और यह खुदा* इंसान के अलावा और कोई न था।

बद्रे मुनीर मर गई, लेकिन दफनाये जाने के पहले लेखक ने इन्सान का वह रूप भी देख लिया जो केवल पूँजीवादी समाज में संभव है। 'आधा दाहिना गाल नीचे का आधा होंठ, ऊपर का पूरा होंठ, नाक के नकमोरों तक तीन दिन में ही सड़कर गायब हो चुका था। अन्दर के भूत-जैसे दाँत और भयानक मुखाकृति देख कर मुझे चक्कर आने लगा, पाँव लड़खड़ाने लगे।'

मानो यह बताने के लिये कि यह एक विशेष समाज-व्यवस्था का फल है—लेखक ने वहाँ पहुँचने पर सुना— 'गाली-गलौज, मार-पीट और कोसने की आवाजें आ रही थीं। संचालिका का दढ़ियल यार इस घर में रहने वाली दालान में गिरी रोती हुई एक स्त्री पर लात-प्रहार कर रहा था, और बाकी सब तरफ सन्नाटा था।'

वेश्या-सम्बन्धी सौदागरी का यह एक रूप था। यह सब रोज होता है, देश में बहुत जगह होता है, लेकिन बहुत कम लेखक यह सब देखने-सुनने या देख-सुन कर उसे लिखने की हिम्मत करते हैं। श्री अमृतलाल नागर उन थोड़े-से साहसी लेखकों में हैं जो समाज का कोढ़ उघार कर हमारे सामने रखते हैं और उनकी चित्रण-कला पढ़ने वाले के मन को जोर से झकझोर कर कहती है—यह सब कब तक? क्या हमारी इन्सानियत एकदम मर गई है?

नागर जी का ऐसी पुस्तक लिखना ही इंसानियत के जिन्दा रहने का एक बहुत बड़ा सबूत है। धीरे-धीरे किन्तु निश्चित रूप से जनता के हिरावल दस्ते आगे बढ़ रहे हैं। जनता की चेतना तेजी से बदल रही है। जनमत अब शक्ति-

शाली होता जा रहा है। इसीलिए एक दुखिया ने नागर जी से कहा—"मैंने सोचा, हमारी भी तकलीफें पब्लिक तक पहुँचे और हमें कोई बतलाये कि हम क्या करें।"

कला के प्रेमी, समाजशास्त्र के विद्यार्थी, समाज-सुधारक कार्यकर्ता एक बार 'ये कोठेवालियाँ' पढ़ें। इतिहास-चर्चा से जी ऊबे तो भी धैर्य से पढ़ें। यह कहानियों की पुस्तक नहीं है, यद्यपि उसमें कहानियाँ भी हैं। उसमें बहुत से अनुभवों और अध्ययन का निचोड़ है। समझदार के लिए वह एक अंकुश है जो हृदय में चुभकर उसे आगे बढ़ने की प्रेरणा देगा।



# ९ | इतिहास पर कलात्मक ग्रंथ—गदर के फूल

अठारह सौ सत्तावन की राज्यक्रान्ति के शताब्दि-महोत्सव के अवसर पर कथाकार श्री अमृतलाल नागर अवध में अपने पुरखों की स्मृति के फूल बीनने निकले। लगभग तीन सौ पृष्ठों की यह पुस्तक उनकी उस तीर्थयात्रा का परिणाम है। पुस्तक की विशेषता यह है कि जितनी वह सन् सत्तावन के वीरों और वीराङ्गनाओं पर है, उतनी ही स्वयं श्री अमृतलाल नागर पर भी। हम उन्हें पुरातत्वज्ञ के रूप में जगह-जगह गुप्तकाल की ईंटें टटोलते देखते हैं। अरक्षित दशा में पुरातत्व की सामग्री बिखरी हुई देखकर उनका हृदय कचोट उठता है : "चारों ओर ईंटें ही ईंटें बिखरी हुई हैं—मुझे एक क्षण के लिए ऐसा लगा जैसे रणक्षेत्र में हजारों सैनिकों के शव पड़े हों।" हम नागरजी को कुशल भाषा-विज्ञानी अनुसन्धानकर्ता के रूप में देखते हैं जिन्होने अवध के काफ़ी हिस्से का भाषा-सर्वेक्षण कर डाला है और स्थानीय बोलियों के नमूनों का बहुमूल्य संग्रह प्रस्तुत कर दिया है। नागर जी दार्शनिक और विचारक के रूप में सामने आते हैं जो इतिहास-लेखन से सन्तुष्ट न होकर उससे दार्शनिक परिणाम भी निकालना चाहते हैं।

नागरजी सोचते हैं, वह पिछला समय कैसा था। लगता है, अजीब और भद्दा सा था। *नई शिक्षा का प्रचार क्यों हुआ? लोगों में सदियों की सामाजिक घुटन* से उबरने की इच्छा थी। पाठक को लगता है, अँग्रेजों ने इस नयी शिक्षा का प्रचार करके लोगों के उबरने की इच्छा को कार्य रूप में परिणत कर दिया। एक सदी पहले हमारे पुरखे अपने जमाने के बारे में क्या सोचते थे? नागर जी का विचार है, "हमारे लगभग एक सदी पहले के पुरखों को अपना जमाना पसन्द नहीं आ रहा होगा तभी तो वे बदलने के लिये अग्रसर हुए।" सन् सत्तावन मे हम हारे। फिर क्या हुआ? "सन् सत्तावन के बाद सारा देश एकदम से नया हो उठा।" और "अंग्रेजी भाषा के सहारे उसने अपनी स्वतन्त्रता खोने से अधिक पायी।" यानी ईश्वर सब अच्छा ही अच्छा करता है। सन् सत्तावन में हारना ही हमारे लिये मंगलकारी हुआ। वर्ना इस महान् अँग्रेजी भाषा के सहारे हम अपनी स्वतन्त्रता

खोने से अधिक कैसे पाते ? इस अधिक पाने में श्री मजूमदार और श्री सेन जैसे अनमोल इतिहासकारों की गिनती भी होनी चाहिए।

और जिस ज़माने में भारतीय वीर अँग्रेजों से लड़े थे, जब अंग्रेजी पढ़कर उन्होंने सर्व शक्तिमान सरकार के सामने दरखास्त लगाना न सीखा था, वह ज़माना कैसा था ? "मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि वह पिछला ज़माना, जिसकी *प्रशंसा हमारे पुरखे हम से और हम अपने नौजवान बच्चों से करते हैं*, कई दृष्टियों से निहायत गंदा और घुटन भरा था।" स्पष्ट है कि सन् सत्तावन से पहले का ज़माना जितना घुटनभरा था, बाद का ज़माना उतना ही घुटनमुक्त था वर्ना हम अपनी स्वाधीनता को खोने से अधिक पाते नहीं।

यहाँ हमें अँग्रेज लेखक क्रुक की बात याद आती है। उसने उत्तर-पश्चिमी प्रदेश (वर्तमान उत्तर प्रदेश) पर १८९७ में प्रकाशित अपनी पुस्तक में सन् सत्तावन के भारत से बाद के भारत की तुलना करते हुए लिखा था, "उस समय यह देश आज की तुलना में हमारा मुकाबला करने में अधिक समर्थ था।" और भी, "स्वयं जनता के मन में युद्ध की परम्परा जीवित थी; इसलिये आज की तुलना में वह कहीं अधिक दुर्जय (much more formidable) थी।" यदि क्रुक की बात सही हो तो मानना होगा कि बाद की तुलना में सन् सत्तावन के लोग अधिक निर्भीक और अँग्रेजों से लड़ने-मरने के लिये ज्यादा तत्पर थे। यह ज़रूर है कि उन्होंने हिंसा का सहारा लिया। आज का ज़माना देखिये, अहिंसा से भारत स्वाधीन हुआ और अहिंसा से एक नये राष्ट्र पाकिस्तान का जन्म हुआ। यह मानते हुए कि पुरानी गौरव-गाथाओं से हमें प्रेरणा मिलती है, नागरजी का विचार है, "युद्ध में स्वपक्ष के गौरव से भर कर भी युद्ध के दृश्यों से घृणा होती है।" क्या ही *अच्छा होता कि प्राचीन गौरव की धरोहर हमें मिल जाती और युद्ध के भयानक* दृश्य कल्पना में न देखने पड़ते। भारत का इतिहास निर्मित करने में विधाता यहीं चूक गया।

श्री जी० पी० श्रीवास्तव और हास्यरस की चर्चा करते हुए नागर जी ने कुछ कमज़ोरियाँ इस युग की भी बतलाई हैं यद्यपि इनके लिए भी प्राचीन भारत ही अधिक दोषी है। लिखा है, "हमारे देश में चूँकि हज़ारों वर्ष की पुरानी संस्कृति, दर्शन, इतिहास की अटूट परम्परा चली आ रही है, इसलिए हमारे बच्चे पैदा होते ही बूढ़े हो जाते हैं।" काश, यह अटूट परम्परा न होती तो बच्चे पैदा होने पर नौजवान तो हो जाते! इस तरह के दार्शनिक चिन्तन ने पुस्तक का काफ़ी हिस्सा घेरा है। वैसे इस तरह की चिन्तन-सामग्री नागरजी के 'बूँद और समुद्र' में भी यथेष्ट है। यदि इन दोनों पुस्तकों में से निकाल कर उसे वे एकत्र छपवा दें—'जैनेन्द्र के विचार' या ऐसी ही किसी पुस्तक के रूप में—तो हम जैसे आलसी पाठकों का बड़ा उपकार हो। कलाकार नागर द्वारा दी हुई कथावस्तु सुगठित रूप

में एक जगह मिल जाय और कथा के पात्रों के साथ नागर जी के अन्तर्द्वन्द्व का अध्ययन करने की आवश्यकता न पड़े।

'गदर के फूल' एक इतिहास-लेखक की रचना नहीं है। इतिहास-लेखक घर बैठे किताबें पढ़कर पुस्तक लिखते हैं, उन्हें जनता में फैले हुए सजीव इतिहास से क्या मतलब ? यह पुस्तक एक कथाकार की लिखी हुई है, एक कुशल चित्रकार की जो अपने वातावरण की हर चीज को बारीकी से देखता है, जो व्यंग्य और हास्य की सामग्री प्राचीन इतिहास और वर्तमान समाज दोनों में ढूंढ लेता है। बौद्धिक स्तर पर उसका चिन्तन जैसा भी हो, उसकी सहृदयता असन्दिग्ध है। अवध के गाँवों में जाकर बूढ़ों को तलाशना, उनकी बतलाई हुई बातें उन्हीं की बोली-बानी, उन्हीं की शैली में लिख लेना, साथ ही हर जगह के वातावरण का सजीव चित्रण करना—यह काम नागर जी के अलावा हिन्दी में कोई दूसरा आदमी न कर सकता था। कितने उत्साह से लोगों ने उनकी सहायता की। केवल परम पवित्र अयोध्या में महावीर जी के मन्दिर के सामने एक महन्त जी ने नागर जी की श्रद्धा की चिन्ता न करके टके-सा जवाब दे दिया था : "यहाँ साधू लोग रहता है, भजन करता है; इतिहास-फितिहास के प्रपंच में नहीं पड़ता।" इस अपवाद को छोड़ देने पर हर जगह साधारण जनता और शिक्षित वर्ग ने नागरजी का स्वागत किया और सहायता की। जनता का यह सहयोग ही इस बात का बहुत बड़ा प्रमाण है कि वह सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति को बड़े गर्व से याद करती है।

इस पुस्तक में हम शेख अब्दुल अली किदवाई की बातें सुनते हैं। उनकी बातों से लगता है कि जनता अपना इतिहास मौखिक ढंग से सुरक्षित रखती है। गदर देखने वालों में भागू नाई था। उसने सन् सत्तावन की घटनाओं पर आल्हा लिखा था; वह आल्हा शेख साहब ने सुना था और शेख साहब से नागर जी ने सुना। भागू नाई जनकवियों का प्रतिनिधि था। जिस उत्साह से वह आल्हा सुनाता था, वह सन् सत्तावन के वीरों के प्रति किसान-जनता का प्रेम प्रकट करता था। शेख साहब के शब्दों में "उस आल्हे को सुनाते-सुनाते भागू की यह कैफियत हो जाती थी कि बदन की एक-एक नस तन जाती थी, और बड़े जोश में आ जाता था, लेकिन राजा बलभद्र सिंह का नाम आते ही आँखों में आँसू आ जाते थे और आवाज़ कमज़ोर पड़ जाती थी।"

इस पुस्तक में साहबदीन का वर्णन है जिन्होंने नवाबगंज की लड़ाई देखी थी। नागर जी ने इनका कलात्मक चित्र खींचा है। उनकी बातचीत किसी भी उपन्यास के पात्र से कम रोचक नहीं। जनता अपने वीरों के बारे में कैसे किंवदन्तियां रच लेती है, इसकी मिसाल साहबदीन की वार्ता है। चहलारी के तरुण वीर बलभद्र सिंह अंग्रेजों से लड़े। मारे जाने पर भी उनका शव युद्ध करता रहा। "तब दुपहर भर बिना गरदन लहास लड़ी।" जब अंग्रेजों का वश न चला "तब एक औरत मगाई

गै, जब उयि लहास छुयि लिहिस तब गिर पडे।" और बेगम हजरत महल कैसे चरित्र की थीं, इस प्रश्न का बहुत ही नपातुला जवाब साहबदीन ने दिया, ' जस अउरत क सील धरम होत है वइसी रहैं।"

इस पुस्तक मे बलभद्र सिंह के भतीजे ननकऊ सिंह का चित्रण है। "दाँत करीब-करीब सब बरकरार हैं। आँख कान चले गये, परन्तु आवाज अब भी कडकदार है।" उन्होंने नागर जी को बतलाया, "जउने सन मा कक्का जूझे रहे नवाबगज माँ, वह साल हम पैदा भयन।" उन्होने "जगनामा" मँगवाया। हाथ से टटोल कर पहचाना कि वही पुस्तक है, फिर "बड़े जोश में आकर कवित्त सुनाने लगे।" इस तरह श्री अमृतलाल नागर ने अपने परिश्रम के फलस्वरूप इतिहास के जीवित स्वर सुने।

पुस्तक मे जनता की वीरता और वीर-पूजा की अनेक रोमांचकारी घटनाओं का वर्णन है। राजा देवीबख्श सिंह के टूटे सिंह द्वार के सामने आज भी मुसलमान ताजिये टिकाते हैं और उस पर "इतना जल-पुष्प चढाते हैं कि कीचड हो जाता है।" सन् सत्तावन से चली आती हुई हिन्दू-मुस्लिम एकता की परम्परा की यह एक मिसाल है। फैजाबाद में दो देशभक्तों को फाँसी दी गई थी। जनता उस पेड को पूजती रही; १९३५ में उस वृक्ष के राज्यद्रोह से अप्रसन्न होकर अंग्रेजों ने उसे कटवा डाला। मौलवी फजलहक खैराबादी ने विद्रोह में भाग लिया। उन्हें काले पानी की सजा हुई, वहाँ उन्होंने विद्रोह का इतिहास लिखा। अपने पोते के अनुसार "यह किताब उन्होंने जेल के अफसरान से चुनकर कहीं फटे पायजामो की धिज्जियों में, पत्तों पर, चमडे पर, लिख-लिखकर जो कैदी हिन्दुस्तान की तरफ आते गये उनके हाथों मेरे वालिद के पास भेजते गये।" वीरतापूर्ण इतिहास के लिखने वाले भी वीर थे। इस तरह की घटनाओं के साथ पुस्तक में अंग्रेजों की बर्बरता और आतक का भी उल्लेख है जिसे जनता आज तक भूली नही है।

जनता की अनुपम वीरता के वर्णन के साथ नागर जी ने बहुत से लोकगीत दिये हैं, कविताएँ दी हैं जिनमें जनता की भावना अच्छी तरह झलकती है। वह यदि वीरों की पूजा करती है तो देशद्रोहियो से उत्कट घृणा भी करती है। किसी गाँवों में अंग्रेजों ने अपने मददगार एक सिख को कुछ जमीन दी। गाँव वाले रास्ता बतलाते हुए अब भी कहते हैं, "अइसी ते चले जाव, आगे गद्दारन केर घर परी।" इसी तरह नवाब नक्की का नाम गद्दार का पर्याय हो गया, "यो शख्श तो नक्की निकल गया।" इस तरह की मिसालें बतलाती हैं कि अँग्रेजों के प्रति घृणा को एक व्यापक जन-आधार मिला था। नागरजी ने ठीक लिखा है, "वाह री जनता! तेरे शब्दों और मुहावरों के पीछे कितना इतिहास भरा होता है!" नागर जी जब चिन्तन के मूड में नहीं होते, तब जनता में घुल मिल जाते हैं। यदि लोक-गीतों की तरह हम लोक-गद्य की कल्पना करें तो कह सकते हैं कि कलाकार नागर का गद्य

लोक-गद्य बन जाता है। उन्होंने अंग्रेज भक्तों—अंग्रेजी राज की "स्वाधीनता" का लाभ उठाने वाले अग्रगण्य सज्जनों—के बारे मे उचित आवेश से लिखा है, "सत्तावनी क्रान्ति के असफल होने के बाद अनेक 'स्वाभिमानी' क्षत्रिय, ब्राह्मण और उच्च वर्गीय मुसलमान ताल्लुकेदार अंग्रेजो के प्रति खैरख्वाही दिखलाते हुए उनके तलवे चाटते थे। अंग्रेजों के सार्टिफिकेट बटोरने की, नाक रगडने की बात देख, यह सोचकर हैरत होती है कि आखिर हमारे इन ताल्लुकदार पुरखों का छात्र धर्म और स्वाभिमान कहां चला गया था।"

स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा था कि लोक-हृदय में लीन होने की दशा का नाम ही रसदशा है। नागर जी जब इस रसदशा मे होते हैं, तब भारतीय इतिहास पर उनकी टिप्पणियाँ—और वे इस दशा में सक्षिप्त ही होती हैं—बड़ी मार्मिक होती हैं। विद्रोह में नेतृत्व किसका था ? अग्रदल की भूमिका किसकी थी ? जनता को बटोरने और संगठित करने का काम किसने किया था ? नागर जी का स्पष्ट उत्तर है, "सिपाहियों के जोश से अफीमची, विलासी और अपने मिथ्या दभ मे सगोतियों के सिर पर रण पूजने की कायरता रखने वाले, फूट में पड़े सामन्तो की भुजाओं म भी क्षात्र-रक्त हुमक पड़ा।" अर्थात् प्रमुख भूमिका सामन्तों की नहीं थी वरन् सिपाहियों की थी। देश की पराधीनता का कारण बतलाते हुए उन्होने ठीक लिखा है, "वीरता की कमी के कारण नहीं वरन् फूट के कारण भारत गारत हुआ।" सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति के सिलसिले में यह तथ्य ध्यान में रखना और भी आवश्यक है क्योंकि अंग्रेजो ने अपनी वीरता और अनुशासन के अतिरंजित चित्र खींचे हैं और भारतीय पक्ष को असगठित, अनुशासन हीन और कायर दिखलाया है। यदि स्काटलैंड, आयर्लैंड और वेल्स के सामन्त रोमनों या नार्मनों से मिल जाते और अंग्रेजों को अपनी स्वाधीनता के लिए युद्ध करना पड़ता तो जो कठिनाइ उनके सामने आती, वही कठिनाई १८५७ में उत्तर भारत के लोगों के सामने थी। नेपाल, कश्मीर, अफगानिस्तान, राजस्थान, मध्यभारत, हैदराबाद और बंगाल के राजा और जमींदार अंग्रेजों के साथ थे। भौगोलिक दृष्टि से अंग्रेजों ने विद्रोह-क्षेत्र को अपनी मित्र-पांति से घेर लिया था। इस क्षेत्र के अन्दर भी उनके सैकड़ों सामान्त-मित्र मौजूद थे। तोपो की कमी के अलावा सन् सत्तावन में भारतीय जनता की पराजय का यह मुख्य कारण था।

इस पुस्तक को पढ़कर लगता है कि लखनऊ के बाहर कितने "बूंद और समुद्रों" की सामग्री बिखरी पड़ी है। नागर जी शहर ही नहीं गांव के लोगों में घुलमिल जाने की कला में बहुत दक्ष है। इस कला मे हम सभी उनसे बहुत कुछ सीख सकते हैं। पुस्तक मे उनके सैलानी रूप की छाप है। बरसते पानी में कहीं ढोल-मँजीरों के साथ वे लोकगीत सुनते हैं, कहीं नेपालगंज के पेड़ों की तारीफ सुनकर अधीर हो उठते हैं, कहीं "कच्ची याने दाल भात के नाम से हम ललचा भी

उठे।" और रसोई पवित्र करने के बदले खाट पर ही जम गये। सारी पुस्तक में अवध की बेगम कथा के मूल सूत्र की तरह विद्यमान हैं। उपन्यासकार वृन्दावन-लाल जी वर्मा महारानी लक्ष्मी बाई को पूजते हैं तो बेगम हजरत महल को लेकर नागर जी का भावावेश दूसरे स्तर का है। जब बेगम के बारे में लिखते हैं तो इतिहास और रोमान्स घुलमिल जाते हैं। और बलमऊ में मौलवी अहमदुल्लाशाह का इतिहास टटोलते हुए लतीफन पतुरिया के यहाँ पहुँचे। "उसकी अवस्था ८५-९० बरस की है।" कद्रदान नागर जी को पाकर ऊँचा सुनने वाली मुसम्मात लतीफन ने कहा, "आप बड़ी दूरि से आये हैं, हम किस्सा नहीं सुना सके, पर एक ठई लावनी जरूर सुने जाव।" और नागर जी के शब्दों में "बी लतीफन ने अपनी पिच्चासी की आयु को जवानी के दिनों की सान पर चढ़ा दिया।"

"गदर के फूल" जनता के जीवित इतिहास, चुटकलों, लतीफों, लोकगीतों, रोमांचकारी घटनाओं, अनोखे रेखाचित्रों का पिटारा है। श्री अमृतलाल नागर की कलम का यह कमाल हमें एक नहीं दो युगों की अनुपम झाँकी देता है।



# १० | अमृतलाल नागर के उपन्यास में अमृत और विष

'धर्मयुग' (२७ नवम्बर '६६) में श्री धर्मवीर भारती ने 'अमृत और विष' की इतनी अच्छी आलोचना लिखी है कि जी करता है, नागर जी के इस उपन्यास पर मैं खुद कुछ न लिखूँ, महज़ भारती के लेख की दाद देकर उपन्यास-लेखक को बधाई दे दूँ। लेकिन मेरे मित्र घनश्याम अस्थाना जो १५ अक्तूबर सन् '६६ को मुझसे उपन्यास माँग ले गये थे और ४ जनवरी सन्' ६७ को उसे वापस कर गये, साथ में एक पत्र भी दे गये और मैंने सोचा, नागर जी ने उपन्यास के अन्दर उपन्यासकार अरविन्द शंकर का चित्रण करके मनोवैज्ञानिक करिश्मे दिखाये हैं तो इस उपन्यास के पाठकों-आलोचकों की प्रतिक्रिया का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करते हुए मैं एक छोटा-सा लेख ही लिख डालूँ। मैं अपने इस लेख के कृपालु पाठकों-पाठिकाओं से आशा करूँगा कि उन्होंने श्री अमृतलाल नागर का उपन्यास 'अमृत और विष' न पढ़ा हो तो पढ़ लें, इसी तरह 'धर्मयुग' का उपर्युक्त लेख और अन्त में घनश्याम अस्थाना का पत्र, जिसे मैं नीचे उद्धृत कर रहा हूँ। अस्थाना जी नागर जी के प्रशंसक हैं; इसके सिवा उपन्यास पढ़ने में उन्हें जो कुछ समय लगा, वह ज़्यादा ही होता यदि मैं उनसे प्रायः हर हफ़्ते उपन्यास की वापसी का तक़ाज़ा न करता। अब उनका पत्र:

"४-१-१९६७ ई.

प्रिय डाक्टर साहब,

'अमृत और विष' नये वर्ष में लौटा रहा हूँ। पता नहीं, यह उपहार कैसा लगे—पहली बात तो यह कि यह वापिसी है, उपहार नहीं; दूसरी बात यह कि इस पुस्तक को अगर यह बिलकुल नये सिरे से भेंट की जाती—तो आप केवल इसी रूप में नववर्ष का उपहार मान सकते थे कि यह हिन्दी के मूर्धन्य कथाकार और उससे भी अधिक आपके अनन्य मित्र श्री अमृतलाल नागर की कृति है। इसके अतिरिक्त मैं इसके गुण के विषय में क्या कह सकता हूँ ?

इसे लौटाने में इतनी देर क्यों हुई ? आप जानते हैं, पढ़ने-लिखने का इतना

कम समय इन दिनों मिल पाता है कि एक बैठक में, या नित्यप्रति नियम के साथ कोई भी काम कर सकना असम्भव है। इसके अलावा पता नहीं क्यों एकाग्रचित्तता की स्थिति इस किताब के साथ बँध ही नहीं पायी। अमृतलाल नागर का कृतित्व मुझ जैसे सामान्य व्यक्ति और सामान्य साहित्यिक रूप से प्रबुद्ध पाठकों तक के लिए अपरिचित नहीं है, और इस दृष्टि से नागर जी कि प्रतिभा के अन्य पक्ष चाहे हम जैसो के पल्ले न पड़ें, मगर उनकी कृतियों की रसात्मकता तो निश्चित रूप से ऐसी मोहिनी ही रही है कि मन को बाँधे रहे। 'सेठ बाँकेमल' का कोई भी अध्याय कितनी ही बार पढ़ा जा सकता है और हर बार वही मजा देता है। मैं उसे शुद्ध हास्य की कृति नहीं मानता। हास्य की कृति मन की ऊपरी पर्तों को हरा-भरा कर सकती है मगर इस प्रकार छा नहीं जाती जैसा कि सेठ बाँके मल का चरित्र। सेठ बाँकेमल पुराने वक़्तो के आगरे का, बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशकों के आसपास के आगरे का, दर्पण है जिनके माध्यम से उस पुराने युग की शहरी संस्कृति के दर्शन होते हैं। सेठ बाँकेमल एक भारी-भरकम चरित्र हैं, हास्य चरित्र की भाँति कोई अतिशयोक्तिपूर्ण रूप से अंकित कार्टून नहीं। जिस व्यक्ति ने आगरे के मुहल्ले-बस्तियों और उनके आसपास की बग़ीचियों, मन्दिरों अखाड़ों को नजदीक से जाना है उसे सेठ बाँकेमल का निहायत फुरसतपूर्ण, बेशुमार रंगों से भरा व्यक्तित्व एकदम जाना-पहचाना लगेगा। इस सवा सौ पृष्ठों के लघु उपन्यास में जिस आंचलिक संस्कृति का सजीव चित्र मिल जाता है वह हिन्दी के अनेक स्वनामधन्य तथाकथित आंचलिक उपन्यासों में मुश्किल से ही मिलेगा। मैं 'सेठ-बाँकेमल' का तजकिरा इसलिए छेड़ बैठा क्योंकि 'अमृत और विष' के सन्दर्भ में उसकी याद आये बिना नहीं रहती। 'अमृत और विष', 'सेठ बाँकेमल' के निर्माता अमृतलाल नागर की कृति होने के बावजूद लगभग हर बात में उससे उलटी साबित होती है।

'अमृत और विष' को पढ़ कर, पता नहीं क्यों, किसी भी प्रकार की कोई बौद्धिक अथवा वैचारिक उत्तेजना उत्पन्न नहीं होती। ऐसा लगता है कि उपन्यास-कार के पास इस उपन्यास में उठाने के लिए अगर कोई समस्या थी तो वह यही कि एक विराट्काय उपन्यास किस प्रकार लिखा जाए और उसके लिए अपने पास की वैभवशाली सामग्री और अपने विश्वकोषीय समाज-सम्बन्धी ज्ञान और अध्ययन का किस प्रकार उपयोग किया जाए? अमृतलाल नागर के बराबर शहरी जीवन और संस्कृति से परिचय शायद ही अन्य किसी कथाकार को होगा। जितने नजदीक से नागर जी ने शहरी लोगों की गतिविधि पर आँख रखी है, उनकी एक-एक हरकत का अध्ययन किया है, उनके नित बदलते मनोविज्ञान, रोज करवट लेती राजनीतिक समझबूझ, बाजार-भाव की तरह चढ़ते-उतरते नाज़-नखरों और मौसम के साथ-साथ बदलती हुई सामाजिक-सांस्कृतिक मान्य-

ताओं के मापकयन्त्र की खूबी से रेकार्ड रखा है, अकेले उसी कार्य के लिए उनको ससम्मान डी. लिट की डिग्री प्रदान करके हिन्दुस्तान या विदेश की कोई भी युनिवर्सिटी धन्य हो सकती है। अपने इसी विपुल जीवन-अध्ययन और ज्ञान का उपयोग नागर जी ने अपने देश और विदेश मे सराहे गये उपन्यास 'बूंद और समुद्र' में किया था और उसी सामग्री का उपयोग उन्होंने 'अमृत और विष' में किया है। मगर 'अमृत और विष' अपनी इस सम्पदा के अनन्तर भी न तो 'बूँद और समुद्र' की व्यष्टि को ठोस रूप से बाँध पाया और न ही समुद्र की-सी सहज गहन गम्भीर समष्टि में व्याप्त हो सका। 'अमृत और विष' की एक महत्त्वपूर्ण बल्कि कहा जाए तो विकट, समस्या यह है कि उसका आद्यन्त कहाँ-कैसे पकडा ठहराया जाए और दिलचस्प बात यह है कि यह समस्या उपन्यासकार अमृतलाल नागर को या उपन्यास के मुख्य चरित्र ('हीरो' नही) उपन्यासकार अरविन्द शकर को नही सालती बल्कि पाठक घनश्याम अस्थाना या उस जैसे सामान्य-बुद्धि, किन्तु नागर-फैन, हिन्दी उपन्यास-प्रेमी को बार-बार तग करती है। पाठक को एक साथ ही दुहरी-दुहरी यात्रा करनी पडती है, कथा-सूत्र उस बछड़े की तरह उसे इधर-उधर खींचता है जो कि खूँटा तुडा कर या रस्सी छुडा कर भाग जाना चाहता है। उपन्यासकार अरविन्द शकर का वश-परिचय याद रखने की दिक़्क़त पड़ती है—कितने पुत्र हैं, कितनी पुत्रियाँ हैं, बार-बार घूम-घूमकर देखना पड़ता है कि दीनमुहम्मद-राधेलाल की फर्म का कोई सम्बन्ध लाला राधेरमन-रेवतीरमन की फर्म से तो नही है? फिर याद आता है कि यह राधेलाल उपन्यासकार अरविन्द शकर के पूर्वज थे और लाला राधेरमन उनके उपन्यास (यानी उपन्यास के भीतर के उपन्यास) के एक चरित्र हैं। नागर जी ने एक साथ इतने अधिक कथासूत्र, कथानायक और कथापात्र छोडे हैं कि घटनाक्रम का तारतम्य पाठक के लिए बिठाना मुश्किल हो जाता है। उपन्यास की गति या प्रगति के लिए यह भी जरूरी है कि उनका आगा-पीछा जाना जाए, मगर 'अमृत और विष' के पाठक के लिए करीब-क़रीब यह बात भी अनिवार्य है कि वह हर पात्र की वल्दियत से भी वाक़िफ़ हो, चाहे उसका उपन्यास के प्रधान कथासूत्र (जिसका पहचानना बड़ा मुश्किल है) से कोई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध हो या नहीं। पात्रो की इस विशाल भीड़ मे पैठने के लिए पाठक का मन तो इसलिए करता है कि यह उपन्यास-नवाब (उपन्यास-सम्राट् के तर्ज़ पर) अमृतलाल नागर का बसाया हुआ रंगीन और जीवन की पेंगें भरता हुआ लखनऊ है, मगर वह लखनऊ निकलता है एक बेदम उपन्यासकार अरविन्द शंकर द्वारा निर्मित, जिसमें दुनिया-भर के बेसिर-पैर के निरुद्देश्य चरित्र अपनी समस्त सजीवता के अनन्तर भी पाठक का मन रमाने में एकदम असमर्थ और अक्षम हैं। घटनाचक्र यथार्थ के अत्यधिक निकट होकर भी उपन्यासकार की कल्पनाशक्ति की सुविधा और 'मनोकांक्षा' की

तुष्टि के आधार पर विकसित होता चलता है।

'अमृत और विष' का कथानक एकदम उलझा हुआ और गतिहीन है। लम्बी-लम्बी यात्राओं और अनेक घटनागत, पात्रगत विराटताओं के बावजूद उपन्यास का प्रवाह बन्द पानी का प्रवाह मात्र ही है। उपन्यास की इस भीड़-भरी दुनिया में किसी भी पात्र को पकड़ कर चलना मुश्किल है, चाहे वह रमेश हो, लच्छू हो, खन्ना साहब हों, डाक्टर आत्माराम हों, रानी हो, कुँवर रद्यूसिंह हों या कोई और। फिर भी कोई प्रतिबद्धता, कोई ठोस आधार भूमि है ही नहीं। अधिकांश पात्र नियतिहीन ही नहीं, गतिहीन भी हैं, रमेश के आशीर्वाद की परिणति विधवा रानी के साथ विवाह में ही हो जाती है, आगे के रमेश का चरित्र 'इण्डिपेण्डेण्ट' अखबार के एक ऐसे संवाददाता के रूप में विकसित भर हो पाता है जो कि उस विराट् अखबारी-साम्राज्य का एक कलपुर्जा मात्र है और अपने अखबार के लिए सनसनी खेज़ खबरें जुटाने में, न सही शर्लाक होम्स, मगर 'ब्लिट्ज़' का संवाददाता भर बनकर रह जाता है। लच्छू जैसा ओजशील युवक जिसके चरित्र का प्रारम्भ अनेक संभावनाओं से भरा हुआ था, एकाएक ऐसे चरित्र के रूप में विकसित होता है जो कि अपने को जानबूझ कर न केवल 'सारस लेक' की कामिनियों की काम तुष्टि का साधन ही बना लेता है और अपनी 'वेश्यावृत्ति' (?) के पारितोषिक स्वरूप रूस की सैर भी कर आता है, बल्कि वहाँ से लौटकर भी 'ज्यों की त्यों चदरिया' धर कर लखनऊ के राजनीतिक महत्वाकांक्षी-यशाकांक्षी पूँजीपतियों के चरणों को सिर्फ़ इस वजह से धो-धोकर पीता है कि उसे भी कुछ जूठन मिल जाए। और मजे की बात यह है कि लच्छू उसी युवक-संघ का शीर्षस्थ सदस्य है *जिसके अन्य सदस्यों ने राजा किशोरी राय की बारादरी को हथियाने के* लिए पूँजीपतियों की कुटिल चालों के विरुद्ध भूख हड़ताल चलायी थी। नागर जी ने लच्छू के चरित्र के इस विकास (?) या प्रगति (?) को प्रमाणित करने के लिए जो मंजिलें निर्धारित की हैं वे न तो भरोसा दिलाने वाली हैं और न ही बहुत अधिक तर्क संगत। यही बात 'अमृत और विष' के पात्रों की लम्बी भीड़ के बारे में अलग-अलग रूप से कही जा सकती है। डा० आत्माराम अपने व्यक्तित्व में जवाहरलाल नेहरू और शांतिप्रसाद जैन दोनों के लक्षण समेटे हुए हैं और एक छाया-मात्र से अधिक कुछ भी नहीं बन पाते। जितनी बार वे स्वयं उपन्यास के घटनाचक्र में अवतरित होते हैं उससे कई गुना अधिक ईश्वर की चर्चा की भाँति उनका श्रद्धावनत गुणगान उपन्यास के पृष्ठों में गुंजित होता है। उनके विराट् अखबारी साम्राज्य की महिमा वैसी ही गुणकारी लगती है जैसी कि किसी अमरीकी 'न्यूजपेपर-मैगनेट' के महान् चरित्र (?) की। पता नहीं क्यों, कोई भी चरित्र, कोई भी घटना ऐसी नहीं जोकि उपन्यास के अज्ञात कथानक को आगे बढ़ाए। कई एक घटनाएँ ऐसी हैं जो कि किसी जासूसी उपन्यास को चार-चाँद

लगा सकती थीं और किशोर-कल्पनाओं को उत्तेजित कर सकती थीं, मगर जो 'अमृत और विष' के लिए न तो जीवन्त ही है और न ही विशिष्ट। पता नहीं, नागर जी को उनकी नाटकीय संभावनाओं ने इतना क्यों ललचाया कि 'अमृत और विष' उनके समावेश का लोभ वे संवरण नहीं कर सके। 'अमृतलाल नागर की गरिमामयी लेखनी से ये सनसनीखेज घटनाएँ कुछ अप्रत्याशित और अनपेक्षित ही लगती हैं।

सारा का सारा उपन्यास जानबूझ कर एक ऐसी दलदल में जा फँसा है जहाँ से *अन्त में उसे उबारना अमृतलाल नागर जैसे कुशल कथाकार और कलाकार के* लिए भी संभव नहीं हो पाया है। जाने-पहचाने प्यारे-प्यारे उभरते हुए पात्रों और जानी-पहचानी घटनाओं की विश्वस्त सीढ़ियों पर चढ़-चढ़ कर इधर उठती हुई इस उपन्यास की इमारत काले बाज़ारी, चोर बाज़ारी, खलों के हथकण्डों के हथौड़ों, फावड़ों की चोटों में सहसा ही ढहने लगती है। उपन्यासकार ने कई इधर-उधर की बल्लियाँ इधर-उधर से लगाने की कोशिश की हैं, मगर इसकी नींवें खुद उसी की गैर जानकारी मे खोदी जा चुकी हैं और उपन्यास का सारा ढाँचा ही मुँह के बल आ पड़ता है।

'अमृत और विष' के बारे में और भी बहुत कुछ तथा अधिक विस्तार के साथ कहा जा सकता है (और मैं उसके लिए तैयार भी हूँ), मगर ये कुछ बिखरे-बिखरे विचार और आत्मीय क़िस्म की प्रतिक्रियाएँ हैं जो मैंने इन पंक्तियों में व्यक्त करने की कोशिश की है। उपन्यास में 'ताई' जैसा चरित्र ढूँढ़ना व्यर्थ ही होगा यद्यपि पुत्ती गुरु का चरित्र ऐसा है, जिसमें कुछ विशिष्टता है मगर वे भी मामूली पात्रों की श्रेणी में रखे गये हैं जो कि उनकी और उपन्यास की, दोनों की ही 'ट्रैजेडी' है।

मैंने जानबूझ कर पुस्तक के अन्त में दी गयी आपकी सम्मतियाँ अभी तक नहीं पढ़ी हैं—ये सब मेरी तात्कालिक प्रतिक्रियाएँ ही हैं। मुमकिन है अधिक गहरे विचार के बाद इनमें मुझे संशोधन या आमूल परिवर्तन करना पड़े और इसके लिए मैं हमेशा तैयार रहूँगा। पता नहीं, नागर जी इस पत्र से खुश होंगे या नाराज़। जो भी हो।

सस्नेह,

घनश्याम अस्थाना"

जब मैं घनश्याम अस्थाना के इस पत्र की नक़ल कर रहा था एक मित्र जो आक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस में काम करते हैं अचानक आ गये और 'अमृत और विष' की चर्चा छिड़ने पर बोले "मैंने एक दो अध्याय पढ़े, फिर आगे पढ़ा नहीं गया।" ये मित्र सौभाग्यशाली थे जो उपन्यास पढ़ने का साहस बटोर ही न पाये; घनश्याम अस्थाना इस सौभाग्य से वंचित रह गये; उन्होंने अपने को बाध्य किया

कि उपन्यास आदि से अन्त तक पढ़ ही डालें और जब तीन महीने में आप कोई उपन्यास पढ़ेंगे तब 'अन्त' तक पहुँचते-पहुँचते आदि का हिसाब-किताब भूल जाना बिलकुल स्वाभाविक होगा।

मुझे अपना एक अनुभव याद आता है। लखनऊ विश्वविद्यालय के वर्तमान उपकुलपति बी० ए० में मुझे चार्ल्स लैम्ब के निबन्ध पढ़ाया करते थे। कक्षा में जब पुस्तक समाप्त हुई तब मैं लैम्ब से काफ़ी घृणा करने लगा। किन्तु परीक्षा के लिए पुस्तक फिर पढ़ना जरूरी था और मैं दो-तीन दिन मे सारे निबन्ध एक साथ पढ़ गया। तब से मैं सदा के लिए चार्ल्स लैम्ब के गद्य का भक्त हो गया।

यदि कोई इस पुस्तक से रस-सिक्त होना चाहे तो उसे तीन महीने में न पढ़े। या तो हफ़्ते दस दिन में उसे समाप्त कर दे या फिर मेरे उपर्युक्त मित्र की तरह उसे उठा कर एक तरफ़ रख दे। मैं मानता हूँ कि उपन्यास और पाठक के बीच उपन्यासकार अरविन्द शंकर बहुत बड़ी दीवार बन कर आ खड़े होते हैं। आरम्भ के हिस्से मैं धैर्य से और जल्दी-जल्दी पढ़ गया, जैसे बहुत साल पहले मैंने विक्तर ह्यूगो के 'ले मिज़ेराब्ल' के प्रारंभिक अंश सायास पढ़े थे। 'अमृत और विष' के साथ कठिनाई प्रारंभिक अंशो में ही नही है, वे जब-तब, कभी भी, मन चाहे ढंग से प्रकट हो जाते हैं। फीलिंडग ने 'टाम जोन्स' के हर हिस्से के पहले अपने विचार प्रकट करने के लिए एक अध्याय जोड़ दिया था लेकिन वह अपनी बकवास अपने प्रकृत रूप मे करता था, नागर जी ने इस कार्य के लिए एवज़ी ढूँढ़ लिया है—अर-विन्द शंकर।

धर्मवीर भारती ने उपन्यास के अन्दर उपन्यासकार द्वारा कथा लिखने के प्रयोग को काफ़ी सहानुभूति से देखा है। मुझे इस तरह के प्रयोग पर मूलतः कोई आपत्ति नही है। आपत्ति इस बात पर है कि अरविन्द शंकर और उसके परिवार के लोग 'अमृत और विष' के पात्र नहीं बन पाये। हम अरविन्द शंकर से उनके बारे में बहुत कुछ सुनते हैं किन्तु उन्हें देखते नहीं हैं। अरविन्द शंकर जो कुछ कहते हैं, वह चित्रण नहीं है, डायरी के पन्ने हैं। यह सब सामग्री अलग से पुस्तक-रूप मे छापी जा सकती थी लेकिन नागर जी अपने परिवार के लोगों और मित्रों की सलाह के बावजूद इस बात पर अड़े रहे कि वह एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास लिखेंगे ही, यह दिखाएँगे कि उपन्यासकार अपने जीवन से सामग्री कैसे बटोरता है और उसे उपन्यास में कैसे चित्रित करता है। किन्तु पाठक यदि यह जानना चाहे कि अरविन्द शंकर ने मूल चरित्रों के सहारे लच्छू, रमेश, छैलू, आत्माराम, रानी, रद्धसिंह आदि का चित्रण किया है तो उसे निराश ही होना पड़ेगा। अरविन्द शंकर अपने जीवन मे आने वाले जिन पात्रों की चर्चा करते हैं, उनसे या तो 'अमृत और विष' के पात्रों का कोई सम्बन्ध नहीं है और है तो वह अरविन्द शंकर के मन में ही रहता है, हम उनके जीवन में आये हुए किसी भी पात्र को उपन्यास के पात्र में ढलते

हुए नहीं देखते। और यह एक तरह से अच्छा ही है, नहीं तो एक बार पुत्ती गुरु की तसवीर हम अरविन्द शंकर के भंगड़ पड़ोसी के रूप में देखते, दूसरी बार रमेश के बाप के रूप में।

धर्मवीर भारती ने लिखा है कि पहले उपन्यासकार पाठक को बिलकुल तन्मय होकर वास्तविकता की भ्रान्ति में डुबा देता है, फिर झटका देता है कि यह सब कल्पित है। इस झटके को पाठक बर्दाश्त कर लेता है—मेरी राय में क्योंकि अरविन्द शंकर के जीवन के पात्र कहीं उनके उपन्यास के पात्रों से टकराते नहीं हैं। पाठक को झटका लगता है दूसरे ढंग का; कथा-रस बार-बार भंग हो जाता है और यह केवल इसलिए नहीं कि अरविन्द की जीवन-कथा का सूत्र उपन्यास के कथासूत्र से भिन्न है वरन् मूलतः इसलिए कि अरविन्द शंकर और उनके पात्र दो संसारों में रहते हैं उनकी बोली-बानी, सोचने-समझने के तरीक़े, संवेदना के स्तर काफ़ी अलग-अलग हैं।

अरविन्द शंकर उपन्यासकार हैं; हिन्दी का उपन्यासकार जब आलोचक बन कर बोलता है तब उसकी शैली ऐसी ही होती है। आपने शायद नागर जी के दो-एक विचारोत्तेजक लेख पढ़े हों, उनसे अरविन्द शंकर के विचार-मंथन को मिलाकर देखिए, दोनों में काफ़ी शैली-साम्य मिलेगा। अरविन्द शंकर के कथा-पात्र वैसे ही बोलते-बतियाते हैं जैसे 'बूंद और समुद्र' के पात्र और मैं फिर कहता हूँ, नागर जी के पात्र अपने सर्जक की तुलना में साधारणतः ज्यादा अच्छा गद्य बोलते हैं। पाठक को आश्चर्य इस बात पर होता है कि यह 'बेदम' उपन्यासकार अरविन्द शंकर इतने सजीव पात्र गढ़ कैसे लेता है। और यह रहस्य की बात है। ज़िन्दगी, परिवार और दुनिया से परेशान, थका-हारा, खीझभरा अरविन्द शंकर उपन्यास लिखते समय कुछ दूसरे ही स्तर का व्यक्तित्व बन जाता है। स्वगत-कथन में वह आत्मान्वेषण करता है, अपने परिवार की कहानी कहता है, उससे हमें सहानुभूति होती है—कम से कम हर समझदार पाठक को होनी चाहिए—किन्तु उसके स्वगत कथन में हम रस नहीं पाते। अरविन्द शंकर का स्वगत-कथन 'अमृत और विष' का सबसे कमजोर हिस्सा है; अरविन्द शंकर का वस्तुगत कथन ही वास्तविक 'अमृत और विष' है। उस उपन्यास में भारत बोलता है, रूढ़ियों में सड़ता हुआ, रूढ़ियों से लड़ता हुआ, वीर रस के आलम्बनों के बिना, साधारण जनों का, असंगतियों भरा, दलदल के ऊपर सर उठाता हुआ अपराजेय भारत। अरविन्द शंकर सिद्ध पुरुष हैं क्योंकि वह इस भारत को देखते हैं, अपने घोर आत्मगत क्षणों में भी उसे नहीं भूलते, उसी के लिए जीते हैं, उसी के लिए मरते हैं। किन्तु लच्छू, रमेश, छैलू के भारत से अलग, अपने परिवार के अन्दर, और भी सिमट कर अपने अहं के अन्दर, अपनी निराशाओं-आकाक्षाओं की सीमा के अन्दर वह पस्त और बेदम लगते हैं यद्यपि जितना लगते हैं, उतने हैं नहीं। उसका स्वगत-कथन दबी हुई गैस

निकलने का साधन है और इससे वह अधिक स्वस्थ हो जाते हैं।

अरविन्द शंकर अपनी कहानी अच्छी तरह नहीं कह पाते। वे अपने पुरखों का इतिहास पाठकों के लिए रोचक नहीं बना पाते। वे अपने परिवार के, अपने अहं के कथावाचक नहीं हैं, वे कथा-वाचक हैं भारतीय समाज के, सन् १९६० और ६२ के स्वतंत्र भारत के। किन्तु मुझे अरविन्द शंकर से सहानुभूति ही नहीं, बेहद प्यार है। मैं उन्हें पाठक की दृष्टि से नहीं देखता; वे मेरी बिरादरी के एक साथी लेखक हैं। कितने दर्द से कहते हैं, 'इक्कीस वर्ष की आयु से लेकर अब तक कभी इच्छामय विश्राम ही नहीं कर पाया।' कितने हिन्दी लेखकों के जीवन की झलक इस एक वाक्य में हमे नहीं दिखाई देती ? पूँजीवादी समाज में जिन्दगी भर व्यक्ति की स्वाधीनता का रस लेने के बाद आखिरी मंजिल में—बालकृष्ण भट्ट, महावीर प्रसाद द्विवेदी, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, बलभद्र दीक्षित पढीस आदि-आदि की तरह—अरविन्द शंकर की हालत यह है; "तन के ठेले पर लदा हुआ यह जीवन का भारी बोझ खींचते-खींचते मेरे प्राणों का भूखा अशक्त भैसा अब बेदम होकर जेठ की चिलचिलाती धूप में तपती हुई सड़क पर गिर पड़ा है।" न मछेरा, न बछेड़ा; ठेला खींचता हुआ अशक्त भैसा,—यह है असली प्रतीक अरविन्द शंकर का।

अरविन्द शंकर अपने मन को 'उत्तेजित, खीझ भरा, थकाहारा' पाते हैं। उन्हें दुःख है कि वे अपने बच्चों को वह सब कुछ न दे सके जो आज के नौजवान चाहते हैं। वे अपनी अनन्त कुंठाओं को मिटाने का एक ही उपाय देखते हैं—आत्म-हत्या ! जिन्दगी में परिवार के लिए वे झूठ से एक हद तक समझौता करते हैं, 'झूठ की मजिल तक अपने अन्तर्सत्य को नाथ कर घसीटता हुआ' ले आते हैं किन्तु समझौते की सीमाएँ हैं; वे बिक नहीं सकते। पत्नी समझाती है, 'तुम्हें इतना सच भी न बोलना चाहिए था।' लेकिन क्या करें, आदत से मजबूर हैं, लेखक का आत्म-सम्मान अन्याय और असत्य को बर्दाश्त नही कर सकता। वे ऐसे घर में पैदा हुए हैं जिसमें ईसाइन मास्टरनी के छू जाने पर कुर्सी, मेज तक धोयी जाती थी। वे ईश्वर को नहीं मानते किन्तु पुराने संस्कार मिटे भी नहीं हैं। लड़के भवानी से बनती नहीं है। पत्नी भी पूरी तरह संतुष्ट नहीं है। अरविन्द शंकर के पिता आत्महत्या कर चुके हैं, उपन्यास के अन्त में उमेश शंकर ने आत्महत्या कर ली। इन दो मौतों के बीच बड़े जीवट की जिन्दगी है अरविन्द शंकर की ! आँख खुलते ही रोज अपनी मत्स्य-रेखा देखते हैं, उसे सिर से लगाते हैं और हाथ चूमते हैं। अपने पौत्र में कृष्ण रूप देखकर उस पर सौ जान से निछावर होते हैं। और कैसी लुभानी हैं उनकी अदाएँ—'कुर्ता डाला और चौराहे पर पान खाने के बहाने चल पड़ा।' उन्हें गर्व है कि वे नवाबी नगर लखनऊ के बाशिन्दा हैं; स्त्रियों को रिझाना जानते हैं, एक अस्थायी प्रेमिका और उसके साथी सज्जन के सामने उसका

'अन्दाज़ेबयाँ यह था कि कहीं अंग्रेजी, कहीं हिन्दी और कही सलीस लखनवी (इस 'सलीस लखनवी' को पहले मैंने पढ़ा—'तसलीम लखनवी') भाषा के लच्छेदार टुकड़े जुड़ते चलते थे।' यही नहीं, वे गुजराती भी जानते हैं; महाकवि नर्मद की 'न जाने कब की पढ़ी सुनी' पंक्तियाँ याद आती है। मानो इतना पता-ठिकाना काफ़ी न हो, अरविन्द शंकर अपनी शारीरिक सुन्दरता का जिक्र करते हैं, यह सुन्दरता उन्हें 'बड़े से बड़े आभिजात्य समाज में कही मन्दमुखी नही होने देती।' वे स्त्री की आँखों मे लालसा की चमक पहचानते हैं। 'मेरे अन्दर का अनुभवी व्यभिचारी' उस चमक को देख कर उल्लसित होता है। और जब उन्हें अन्याय पर क्रोध आता है तब पहली उत्तेजना मे इच्छा यही होती है कि 'इस अन्याय के प्रति आमरण अनशन साधूं।'

अरविन्द शंकर बेहद हिन्दी-प्रेमी हैं। वे उनसे क्षुब्ध हैं जो भाषा के प्रश्न को शतरंज के मोहरे की तरह इस्तेमाल करते हैं। वे हर जगह शासकों, शासनतंत्र-समर्थकों से टकराते हैं। जो सन्' ४२ तक अंग्रेज़-भक्त और कायर थे, वे 'मुझे कम्युनिस्ट और नास्तिक तक कहने लायक गज़-भर की जबान रखते हैं।'

अरविन्द शकर के परिवार के लोग उनके उपन्यास के पात्रों से भिन्न हैं, किन्तु सामाजिक परिवेश के प्रति उनकी भावात्मक प्रतिक्रियाए' उन्हें उनसे मिला देती हैं। मिसाल के लिए, देशभक्त लोग अरविन्द शंकर को नास्तिक और कम्यु-निस्ट कहते हैं; लाला रूपचन्द भी रमेश और उसके साथियों के लिए कहते हैं, 'हमारे यहाँ दो-तीन लड़के बिलकुल कम्युनिस्ट हो गये हैं।...दुनिया जानती हैगी कि खन्ना बाबू नास्तिक हैंगे।' जय किशोर से जग्गा गुरु—'ये तुम नहीं बोल रहे हो, तुम्हारी कमनिस्टी बोल रही है।' पुत्ती गुरु रानी से अपने पुत्र रमेश के बारे में—'ससुर लड़का कमनिस्ट, नास्तिक भया सो कोई बात नहीं पर तुम पचास वर्ष की बुढ़िया...'। रमेश के दरवाज़े पर कुंवर रद्धूसिंह—'कहाँ है वह हरामजादा कमूनिस्ट का बच्चा ? बड़ा ब्राह्मण बना है साला।"

अरविन्द शंकर क्यों ऐसे पात्र चुनते हैं, क्यों उन्हें ऐसी परिस्थितियों में पहुँचा देते हैं कि वे इस तरह की गालियां खाएँ ? इसलिए कि वे स्वयं जीवन में इस तरह की गालियाँ खा चुके हैं, खा रहे हैं। वे इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि 'जो समाज की जड रूढ़िवादिता पर कुठाराघात करे या अन्ध श्रद्धा को गलत बतलाए वह नास्तिक, कम्युनिस्ट।' वे देश, समाज, जनतन्त्र, शासन के बारे में क्या सोचते हैं ? 'जहन्नुम में जाए यह बेपेंदी की सरकार और इसके कर्णधार'—करोड़ों आदमियों की तरह वे सरकार को कोसते हुए कहते हैं, 'इन्होंने चालीस करोड़ आदमियों को कुत्तो का-सा जीवन बिताने पर मजबूर कर रक्खा है।' कांग्रेसाध्यक्ष उनके साथ सन् ४२ में जेल जा चुके हैं किन्तु 'डाकू सेठ से उनकी रिश्तेदारी और उन पर उनका प्रभाव' है। कांग्रेस कमेटी के दफ़्तर में जा कर उन्हें लगता

है कि वे 'जुए के अड्डे में' पहुँच गये हैं। इस पूँजीवादी समाज में 'पैसा भगवान् और सत्ता जगदम्बा है।' क़ानून क्या है ? कांग्रेसाध्यक्ष समझाते हैं 'क़ानून चाक पर चढ़ी मिट्टी है, पैसे वाला जैसा रूप देना चाहेगा, दे लेगा, और आप कुछ न कर पाएँगे।' पूँजीवाद के क़ायम रहते प्रजातंत्र क्या है ? चुनाव में क्या होता है ? उपन्यास के दौरान सन् '६२ के चुनाव पर अरविन्द शंकर की टिप्पणी है, 'डिमाक्रेसी के हामी धूमधड़ल्ले से दिन रात डिमाक्रेसी के सिद्धान्तों पर खुले *आम बलात्कार कर रहे थे, साथ ही चिल्ला-चिल्ला कर कहते भी जाते थे कि हम* डिमाक्रेसी के प्रेमी हैं। पूरी आपाधापी, करोड़ों के खर्च, और गुण्डागीरी तथा अनैतिकता की लहलही फ़सल उगा कर चुनाव का तमाशा पूरा हो गया।'

अपने राजनीतिक दृष्टिकोण के कारण अरविन्द शंकर ऐसे पात्र और परिस्थितियाँ चुनते हैं जो कथा द्वारा उनकी सामाजिक विचारधारा को मूर्तरूप दे दें। कथा के पात्र भटकते हुए उसी परिणाम पर पहुँचते हैं जहाँ अरविन्द शंकर पहले पहुँच चुके हैं। सत्तनरायन बाबू किशन बाबू को मंत्र देते हैं—'डिमाक्रेसी युग का सम्राट होता है बनिया'। किन्तु अरविन्द शंकर को प्रेरणा केवल अपने राजनीतिक दृष्टिकोण से अथवा सामाजिक विचारों से ही नहीं मिलती; उनकी प्रेरणा का मूल स्रोत है भावात्मक। इस भावात्मक प्रतिक्रिया के आलंबन हैं, सिविल लाइन से दूर पुराने शहर के गली-कूचों में रहने वाले मध्यवर्गीय परिवार। और *भावात्मक प्रतिक्रिया में जितना प्रेम है उतना ही जुगुप्सा।* रसों में एक रस बीभत्स भी है। यथार्थ से इसका बड़ा गहरा संबंध है। हास्य और करुण रस इसके सहयोगी हैं। अमृतलाल नागर इस युग में बीभत्स के सर्वश्रेष्ठ लेखक हैं, जिसका अर्थ यह है कि भारतीय जीवन को जितनी गहराई से वे देखते हैं उतनी गहराई से दूसरा हिन्दी लेखक नहीं देखता।

अरविन्द शंकर कहते हैं, 'मेरे आसपास चारों ओर झूठे और निकम्मे धर्म के सड़े पानी में कीड़ों की तरह बिलबिलाने वाला हिन्दू-मुसलमान समाज अब भी मौजूद है।'

इस उपन्यास में लखनऊ की बाढ़ का विस्तृत वर्णन है। उस सैलाब में हर गन्दगी बहती-उतराती नज़र आती है।

'गाढ़ा मटमैला तैरते हुए झागों और कूड़े कतवार से भरा हुआ अपेक्षाकृत *शान्त जल देख-देख कर मन में एक अजब मनहूसियत और मौत के रेगिस्तान-सा* भास मन में होता था।..

"नाव तेज़ी से बढ़ी। तीन-तीन मुहानों में बँट कर भी पानी में बला की गति थी। अँधेरा, घुटन और कुछ-कुछ सड़ाँध भी, जो आगे बढ़ने के साथ ही बढ़ती गयी। पहला पाला मकड़ी के घने जालों से पड़ा। ऊपर की गोल दीवाल की कुछ उखड़ी हुई ईंटों वाली दो जगहों में चिमगादड़ों की महा घुटन वाली बदबूदार चूँ-

चूं-भरी बस्तियाँ मिलीं। साँस लेना दूभर हो गया, उजाले के घेरे दोनों ओर बराबर दूरी पर जिस समय दिखलाई पड़ने लगे उस समय तो बदबू का अन्त ही न रह गया था।'

बहुत ही सटीक यथार्थवादी चित्रण, साथ ही अद्भुत प्रतीक-व्यंजना। यह सैलाब अजगर की तरह उपन्यास के बीचो-बीच पसरा हुआ है और इस तरह अपनी सक्षम प्रतीक-व्यंजना द्वारा उपन्यास के आदि और अन्त को समेटे है। 'किंग लियर' के तीसरे अंक में तूफ़ान की तरह यह सैलाब यथार्थ भी है और प्रतीकात्मक भी।

यहाँ अरविन्द शंकर से विदा लेनी चाहिए किन्तु विदा लेने से पहले इतना कहना आवश्यक है कि इस साथी लेखक ने अपने को काफ़ी निर्ममता और तटस्थता से देखा है और मैं उसकी वीरता की सराहना करता हूँ, भले ही उसका स्वगत-कथन न उपन्यास बन पाया हो, न उपन्यास का अंश।

अरविन्द शंकर ज्यों-ज्यों अपने उपन्यास को लेकर आगे बढ़ते हैं, त्यों-त्यों उनके स्वगत-कथन की लम्बाई-चौड़ाई कम होती जाती है। साढे छह सौ पृष्ठ पार करने के बाद सत्रहवें अध्याय के आरम्भ में उनका स्वगत-कथन केवल पौने तीन पन्ने घेरता है। जितना ही वह अपने पात्रों में रमते हैं उतना ही अपने को भूलते जाते हैं। बड़े कलाकार की तरह अरविन्द शंकर अपने पात्र बाहर की जिन्दगी से चुनते नहीं हैं, वरन् उसमें कुछ अपनी चरित्रगत विशेषताएँ भी डाल देते हैं। इस बात को वह जानते हैं। लच्छू के लिए कहते हैं—"लच्छू अनजाने ही में खुद मेरा प्रतीक बन गया है।" और पुत्ती गुरु ? पुत्ती भाँग छोड़ना चाहते हैं लेकिन छोड़ नहीं पाते। कहते हैं, "भाँग थोड़ी कम करनी चाहिए मुझे। पर साली कम कैसे होय ? अष्टसिद्धि, नवनिधि मिल जाती हैं इसमें"। भाँग छोड़ने की यह समस्या अरविन्द शंकर के लिए रही हो चाहे नहीं, अरविन्द शंकर के सर्जक पंडित अमृतलाल नागर के लिए अवश्य रही है।

नागर जी अपनी विशेषताएँ पात्रों को देते हैं किन्तु सीमित मात्रा में, विजया के प्रसाद की तरह। 'बूँद और समुद्र' में सज्जन, महिपाल, वनकन्या उनका काफ़ी प्रतिनिधित्व करते हैं। इस उपन्यास में उन्होंने अपना प्रतिनिधि अलग से एक उपन्यासकार ही खड़ा कर दिया है। वह उपन्यासकार है, इसलिए नागर जी के प्रवक्ता के रूप में सज्जन एंड कम्पनी से अधिक समर्थ और सजीव है। सज्जन-महिपाल के जोड़ीदार यहाँ रमेश और लच्छू हैं किन्तु इनके चित्रण में और सज्जन-महिपाल के चित्रण में ज़मीन आसमान का फ़र्क है। नागर जी बहुत निःसंग और तटस्थ होकर अपने पात्रों को देखते हैं। रमेश बाढ़ में जनता की सेवा करता है और 'मन ही मन वह अपनी लीडरी के नशे में मख़मूर' भी होता है। अरविन्द शंकर की तरह रमेश भी आधा नास्तिक है। वह मंदिर

बनाने की योजना का विरोध करता है। उसके शिक्षक ईश्वर का नाम लेकर परीक्षा में सफल होने का आशीर्वाद देते हैं लेकिन रमेश को लगता है, 'ईश्वर का तो उसने अपमान किया है। ऐन शिवरात्रि के दिन।' यह सोचते हुए 'रमेश का सारा मानसिक द्रोह सहम कर दब गया।' उपन्यास के प्रमुख युवा-पात्र अपने भीतर इस तरह के मानसिक संघर्ष लिये सामने आते हैं। वे आदर्श, कल्पित पात्र नहीं हैं, मन से गढ़ी हुई कठपुतलियाँ नहीं हैं, साइकिल लेकर ट्यूशन करते, बाप से लड़ते, गलियों में चुरा कर बीड़ी पीते, प्रेम के सपने देखते रमेश-लच्छू जैसे लड़के लखनऊ में, ही नहीं, उत्तर भारत के हर शहर में देखने को मिल जाएँगे। रमेश अखबार का संवाददाता बनता है। यह उसके संघर्ष की परिणति नहीं है, एक मंज़िल है जहाँ तक वह पहुँचा है। और अख़बार का संवाददाता बनने में बुरा क्या है ? और 'ब्लिट्ज़' के संवाददाता जैसा काम करे तो रमेश को मैं काफ़ी क़ामयाब संवाददाता मानूँगा। इसमे कुछ बुराई हो भी तो इसके लिए उपन्यास-लेखक की नुक़्ताचीनी क्यों की जाए, उससे यह माँग क्यों की जाए कि तुम आदर्श क्रान्तिकारी पात्र हमारे सामने प्रस्तुत करो, इस उपन्यास की सफलता ही इस बात में है कि इसमे आदर्श क्रातिकारी पात्र नहीं हैं। वे उस सडांध से अभिभूत होते हैं जिसे वे समाज से दूर करना चाहते हैं, ठीक वैसे ही जैसे हैमलेट, ओथेलो और लियर एक हद तक क्लौडियस, इयागो, गोनोरिल-रीगन का कलुष अपने भीतर सँजोये हुए हैं। रमेश के आदर्शवाद की परिणति विधवा-विवाह में नहीं होती। उसके सद्य: विवाहित जीवन में एक लड़की और आती है। नाम है बानो। रमेश अपनी पत्नी के साथ सोता है किन्तु उसके मन पर छायी है बानो। वह कल्पना में पत्नी को बानो मानकर उससे प्यार करता है। 'उस रात कमरे के अँधेरे में रमेश ने रानी को अपनी कल्पना में बानो मानकर बेहोश जोश में उसे अपना प्यार दिया और प्रकाश होने पर रानी की आँखों में अपने प्रति निर्मल रीझ और अन्तरंग सुखभरी अलसायी मादकता देखकर रमेश का मन लज्जा और ग्लानि से मथ उठा।'' रमेश का यह द्वंद्व नागर जी की अनासक्त कथाकार-दृष्टि का प्रमाण है।

और लच्छू ? चित्रण की दृष्टि से वह सबसे रोचक है, यानी युवकों में। 'सारस लेक' में काम करने वह जाता है, रमेश जब अपनी बहन का विवाह करता है, तब उस नाटक का सूत्रधार लच्छू ही होता है। लच्छू बाबू सतनरायन का बेटा है जो जनम भर क़र्ज़ का भार ढोते रहे और कारिन्दों का अपमान सहते रहे। लच्छू के बारे में बाप की राय है, 'तो ये ससरा कौन कम बेईमान और तिकड़मी होगा...लौंडिया ससरी सब मेरे सन्त सुभाव पर गयीं 'और लौंडे तीनों के तीनों साले अपनी महतारी पे गये हैंगे।' लड़के की बेईमानी से बाप खुश है क्योंकि उसने उन्हें मिठाई खिलायी है, 'नहीं तो साले एक-एक पैसे की बीड़ी

को तरसाते हैंगे हमें।"

लच्छू रूस जाता है लेकिन वहाँ से लौटने के बाद मानो वह दलदल में और भी गहरे धँस जाता है। दलदल में धँसने से उसके चरित्र की संभावनाएँ खतम नहीं हो गयीं, वरन् और निखरी हैं बशर्ते कि हम उपन्यासकार से यह माँग न करें कि वह लच्छू को आदर्श क्रान्तिकारी बना कर दिखाए। रूस जाने से पहले लच्छू क्या है? 'सारक लेक' का कर्मचारी जो अपने आदर्श छोड़ कर कई तरह के समझौते करता है। वह अपनी उन्नति के लिए कामातुर प्रौढ़ाओं के भोग का साधन बनता है। वह जानता है कि 'सारस लेक के शैतानी त्रिकोण सेउसका सम्बन्ध न टूटा तो एक दिन उसका व्यक्तित्व भी दोहरा हो जायगा—फिर तिहरा चौहरा—अनन्त बिखराव भरा हो जाएगा।" यही होता है। यही उसके चरित्र की संगति है; रूस से लौटने पर उसका जो पतन होता है, उसके बीज बोये जाते हैं 'सारस लेक' में और 'सारस लेक' मे वह जो कुछ करता है उसके प्रेरणास्रोत भी उसके जीवन में विद्यमान हैं। 'सारस लेक' का बुलावा है रमेश के लिए, किन्तु वह जा नहीं सकता क्योंकि रानी चाहती नहीं कि वह जाए। जब आगे चल कर रानी-रमेश का विवाह हो जाता है, तब वह उन्हें बधाई देता है किन्तु आरंभ में उसे इस तरह के आदर्श-प्रेम पर कोई श्रद्धा नहीं है। 'कैरियर' पहले, मुहब्बत बाद को—लच्छू का जीवन-दर्शन 'कैरियर' को केन्द्रबिन्दु बनाता है। वह रमेश को समझाता है, 'अबे क्यों एक प्लैटानिक मुहब्बत के पीछे अपना कैरियर बिगाड़ रहा है उल्लू कहीं का।" और जब रमेश जाने से इनकार करता है, तब लच्छू देश-सेवा नहीं, तिकड़म से अपना 'कैरियर' बनाने की बात सोचता है, 'खैर मुझे अगर यह चान्स मिल जाय तो अपनी तकदीर को सराहूँगा ये झूठ नहीं। डाक्टर आत्माराम को तो छै महीने में ही अपने शीशे में उतार लूँगा, तुम देख लेना।' लच्छू का 'कैरियर'-मोह उसके पतन का एक प्रमुख कारण है। मिसेज़ माथुर जब उसे अपना शिकार बनाती है, तब वह स्वयं भी अपना मतलब सिद्ध करने की घात में रहता है। उसे मिसेज़ माथुर 'कचालू मटर की चाट" जैसी ही नहीं लगतीं, 'इससे भी बड़ी बात यह थी कि इस 'पॉश सोसायटी' का एक महत्त्वपूर्ण अंग बनाने की महत्त्वाकांक्षा खुद उसके मन में ऐसे बीज के समान पड़ी हुई थी जो उचित खाद और पानी न पाने के कारण अब तक पनप नहीं सकी थी।" इससे स्पष्ट है कि लच्छू का पतन आकस्मिक न होकर उसके चरित्र का संगत 'विकास' मात्र है।

किन्तु लच्छू का जन्म एक ग़रीब घर में हुआ है। उसे ग़रीबों से हमदर्दी भी है। यही उसके मध्यवर्गी चरित्र की विशेषता है।

'क्रेमलिन के लाल सितारे को देख कर कम्युनिस्ट या कम्युनिज़्म का प्रबल समर्थक न होते हुए भी उसके मन में अपनेपन की झलक जाग उठी थी। लच्छू

भी ग़रीबी के सताए रूप्पन महाजन और उनके कारिन्दों के मारे हुए शोषित समाज ही का एक अंग है।' रूस में लच्छू प्रश्नकर्ताओं को कैफ़ियत देता है, उसका देश क्यों उन्नति नहीं कर पाया। पं० जवाहरलाल नेहरू हिन्दुस्तान को नया बनाने के लिए बहुत कुछ कर गये हैं; स्वतन्त्रता आये हुए कुल बीस-इक्कीस साल ही तो हुए हैं, इत्यादि। किन्तु उनके मन में द्वंद्व था; वह जानता था देश के लिए उसे जो कुछ करना चाहिए था उसने नही किया। 'इसके बाद से लच्छू का मन आम तौर पर दोहरे स्तर पर ही रहा। उसके मन का निचला स्तर अपने देश और समाज के पिछड़ेपन से घुट और तप रहा था।" लेकिन यह घुटन-तपन वह मन पर हावी होने नहीं देता; उसे मन के निचले स्तर पर ही रखता है। उपन्यासकार अरविन्द शंकर पाठक को सावधान करना नहीं भूलते, 'लच्छू भले ही समाजवादी रूस के दर्शन करने पहुँच गया हो पर सच्चा समाजवादी रमेश ही है।'

रूस से लच्छू यह सीख कर आता है कि श्रम से बड़ी कोई शक्ति नहीं। 'लेकिन कहाँ श्रम करूँगा, क्या उद्देश्य होगा—यह प्रश्न लच्छू को उस मधुर स्मृति के अन्त में यथार्थ के धरातल पर उतार लाया। कुछ न कुछ तो करूँगा ही। सबसे पहले जीविका पाना ही सबसे बड़ा श्रम और सदुद्देश्य है।' जीविका भर के लिए पैसे कमाना लच्छू के लिए कठिन नहीं है किन्तु उसे बड़ी आमदनी चाहिए। क्यों? इसलिए कि 'उन सुख-सुविधाओं को जो सारस लेक में भोग चुका है वह निश्चय ही पाकर दम लेगा।' लच्छू सारस लेक में जो पूँजीवादी आदतें सीख चुका है, वे रूस-यात्रा से धुल नहीं जाती। उसका व्यक्तित्व जिस काजल की कोठरी में गढ़ा गया है, उसका असर इस तरह की यात्राओं से खतम नहीं हो सकता। जितना ही तिकड़म से पैसा कमाने के फेर में वह अपने सिद्धान्तों की बलि देकर अवसरवादी बनता है, उतना ही उसका पतन होता जाता है। किसी समय बैजूलाला के कहने पर उसने सेठ रेवती रमन को 'भोगाङ्गना सप्लाई करने से साफ़ इनकार कर दिया था।' अब वह उन्हीं रेवती रमन को खुश करने के लिए 'गोपी से सौदा पटा रहा था।'

लच्छू जैसे कितने प्रतिभाशाली युवकों के उचित विकास की संभावनाएँ इस तरह नष्ट नहीं हो जातीं? इसके लिए दोषी पूँजीवादी समाज है न कि उपन्यासकार। उसका लक्ष्य यह दिखाना है कि विकास की सम्भावनाएँ नष्ट कैसे होती हैं। चुनाव के दौरान लच्छू साढ़े सोलह हजार रुपये कमा लेता है। 'चुनाव के अन्तिम आठ दिनों में उसने एक हजार से तीन हजार रुपये तक रोज कमाये।' वह अपना जीवन-दर्शन इस तरह विकसित करता है—'धर्म-कर्म, पाप-पुण्य, पूँजीवाद, समाजवाद—ये सब कुछ अवसरवाद के आधार पर ही टिके हैं।' पैसा कमाने का एक साधन है—स्त्री। लच्छू अपने को बेचता है, दूसरों को बेचता है।

रेवती रमन उसे समझाते हैं—'औरत से सिर्फ़ बच्चे ही पैदा नही किये जाते, रुपये भी पैदा किये जाते हैं।' लच्छू के लिए यह बात नयी नही है। 'लच्छू भी इसी दर्शन में विश्वास करता है।"

फिर लच्छू गिरते-गिरते हर तरह के अपराधों के लिए तैयार हो जाता है। पूँजीवादी राजनीति में दुश्मन की हत्या कराना, उसके गोदामों आदि में आग लगवाना आम बात है। लच्छू इस तरह के अपराधों में फँस जाता है। लोग रमेश की भी जान के गाहक हैं; किसी तरह वह बच जाता है। यह सब घटनाक्रम सनसनीखेज़ लगता है किन्तु सामाजिक उपन्यासों में हत्या और षड्यंत्र को जगह ही न दी जाए, न तो ऐसा कोई नियम है और न होना चाहिए। लच्छू डा० आत्माराम के प्रेस में आग लगाने पहुँचता है। दो पूँजिपतियों के संघर्ष में वह पैसा पाने के लिए अपराधी बनता है। 'दस हज़ार रुपयों पर यह सौदा तय हुआ था कि लच्छू रोटरी प्रेस और दूसरी मशीनों को इतना नष्ट करवा देगा कि कम से कम आठ-दैस दिनो तक अख़बार छपना ही असंभव हो जाए।' क्यों उसका ऐसा पतन हुआ? वह डा० आत्माराम से कहता है—सारस लेक में सुखी जीवन बिताने के बाद—'मैं उस नरकभरी ज़िन्दगी में तिल-तिल करके सड़ने के लिए लौट जाने को हरगिज़ तैयार न था, जहाँ से मैं आया था।" लच्छू उन मध्यवर्गीय युवकों का प्रतिनिधि—कुछ समय के लिए बन जाता है जो ग़रीबी की मार सहते-सहते धैर्य खो कर फ़ासिस्टवाद की हिमायत करने लगते हैं। इन्हें इस पतन से बचाने का एक ही मार्ग है—एही राजनीतिक आन्दोलन। देश में राजनीतिक संकट उत्पन्न होने पर यदि क्रांतिकारी आन्दोलन का अभाव हो तो ऐसी हालत में जनता स्थिर नहीं रहती, वह तेज़ी से फ़ासिस्टवाद के समर्थन की ओर झुकती है। इस समय भारत ऐसे ही संकट से गुज़र रहा है। लच्छू विदेश-यात्रा करके फ़ासिस्टवाद के बारे में बहुत कुछ सीख आया है। उस जैसे युवकों का पतन क्यों होता है, इसे वह बखूबी समझता है। डा० आत्माराम से कहता है, 'अगर इस देश में कोई सक्रिय राजनीतिक आन्दोलन या समाज-निर्माण का जोशीला काम चल रहा होता तो डॉक्साब, मैं रूस से लौटने के बाद आज कुछ और ही होता।' फिर उसने आत्माराम के प्रेस में आग क्यों नहीं लगाई? इसलिए कि वह ग़रीब घर में पैदा हुआ था, वह आत्माराम से प्रभावित था और रूस जाकर नाज़ियों के अत्याचारों की कहानी सुन आया था। उसे किएव के वनस्पति-विज्ञान के रखवाले का ध्यान आता है जिसने ऊँची पहाड़ी से सारा नगर दिखलाते हुए बतलाया था, कैसे नाज़ियों ने उसे बर्बाद किया था। 'और यह ध्यान आते ही खट से मन में यह लगा कि खोखा नाज़ियों की तरह ही आप पर आक्रमण कर रहा है और मैं सिर्फ सेन से बदला लेने के लिए इस दस हज़ार रुपयों में से तीन-चार हज़ार, खुद खाने की लालच में, अपनी मोटर का चक्का चलाये रखने की

लालच मे—' ।

इससे आगे लच्छू से बोला नही जाता है । उसे अपने चरित्र के विकास की सम्भावनाओं का पता है; वह अच्छी तरह जानता है, वह कहाँ से कहाँ पहुँच गया है । उपन्यासकार के शब्दों मे—'उसके मन के बाँध जो शब्दों के फाटक लगाकर अपने भावावेश पर अब तक कंट्रोल कर रहे थे एकाएक टूट गये । एक लम्बे वाक्य प्रलाप का अंत काफ़ी देर तक फूट-फूट कर रोने के बाद हिचकियों और सुबकियो के दलदल में हुआ ।"

उपन्यासकार के लिए लच्छू के चरित्र का महत्व क्या है ? आत्माराम लच्छू को देखते हैं । नौकर कॉफ़ी लेकर आता है, उसे लौटा देते हैं । "उनके सामने कुंठित नौजवान भारत बैठा था, जो बेकार है, दरिद्रता से नफ़रत करता है, उन्नतिशील जीवन चाहता है और न मिलने पर, दुतकारे जाने पर अपने कुंठित आत्म-सम्मान के लिए, जीवन सुरक्षा के लिए कितना अविवेकी, क्षुद्र और अन्ध स्वार्थी हो जाता है ! *ये अभी अपराधी नही, विकृत विद्रोही भर हैं !" यह विश्ले*षण कुल मिला कर सही है । कुंठित नौजवान भारत का प्रतिनिधि है लच्छू, वह क्रान्तिकारी भी बन सकता है फ़ासिस्ट भी । आज के भारत को देखते हुए लच्छू से अधिक 'टिपिकल' पात्र हिन्दी उपन्यासों मे दूसरा मुश्किल से मिलेगा । उसकी वेदना छैलू की पीड़ा से अधिक मर्मवेधी है । वह अपने चरित्र की सम्भावनाएँ *जानता है, फ़ासिस्टवाद और समाजवाद का अन्तर समझता है । इसलिए अधिक* व्यथित है । उसकी पीड़ा व्यक्तिगत तो है ही किन्तु वह काफ़ी बड़े युवासमुदाय की पीड़ा भी है । वह अस्वस्थ मनोविकारों अथवा क्षणिक आवेश से उत्पन्न नहीं हुई । इसलिए उसमें अधिक गहराई है ।

लच्छू का स्थान न रमेश ले सकता है न रमेश का बाप । किसी में उतना गहरा वह द्वंद्व नहीं है जो आज के उत्तर-भारतीय युवा समुदाय की विशेषता है । पुत्ती गुरु बहुत रोचक व्यक्ति हैं । वह ताई के जोड़ के हैं किन्तु ताई को 'बूँद और समुद्र' में अधिक स्थान मिलना चाहिए था, पुत्ती गुरु को जितनी जगह 'अमृत और विष' में मिली है, वह ठीक है । यह उपन्यास नयी पीढ़ी को लेकर लिखा गया है । इसके मुख्य पात्र रमेश, लच्छू, रानी हुर्रो, छैलू आदि हैं; शोभाराम, आत्माराम आदि का पार्श्वभूमि में रहना ही उचित है; पुत्ती गुरु, रद्धूसिंह आदि नयी पीढ़ी से टकरा लेते हैं, इसलिए इनका मंच के अग्रभाग में कुछ समय के लिए आना *आवश्यक है । यदि इस उपन्यास में दो पीढ़ियों का बाह्य संघर्ष मात्र होता तो हम* कहते कि पुत्ती गुरु और उनके पुत्र को बराबर जगह मिलनी चाहिए थी । किन्तु उपन्यास में बाह्य संघर्ष जितना महत्वपूर्ण है उतना ही आन्तरिक संघर्ष है । यह अंतर्द्वन्द्व मूलतः नयी पीढ़ी के मन में है, पुत्ती गुरु जैसों के मन में नहीं । इसलिए यदि उपन्यास का कथासूत्र मिल जाए, उसका आदि-अन्त दिखने लगे तो लेखक

का आशय-उद्देश्य भी समझ में आने लगे, तब यह मालूम हो जाए कि किस पात्र को कितनी जगह मिलनी चाहिए थी और हम पात्रो से यह शिकायत न करें कि वे आदर्श क्रान्तिकारी क्यों नहीं हैं ?

मैंने यह उपन्यास दस दिन मे पढ़ा था और इन दस दिनो में चार दिन यात्रा के भी शामिल थे। यात्रा करते समय मुझे काफी कठिनाई का सामना करना पड़ा। रेल के डिब्बे में पुस्तक पढ़ते समय कभी-कभी इतने ज़ोर की हँसी आती थी कि सँभालना मुश्किल हो जाता था और साथ के यात्री कुछ क्रोध, कुछ लोभ की निगाह से देखने लगते थे। पुस्तक में मन इतना रमा हुआ था कि उसे पढ़े बिना रहा भी न जाता था। अरविन्द शंकर की दीवार एक बार लाँघने पर कोई ऐसा धैर्यशाली ही होगा जो उपन्यास को धीरे-धीरे पढ़ेगा, यह मेरे लिए आश्चर्य की बात है।

और सब छोड़ दीजिए, केवल सुनिए, लोग कैसे बोल रहे हैं; ऐसा मज़ा लोगों के बोलने की इस नक़ल में है कि असल में भी कम ही मिलेगा। नागर जी के और सब रस सोद्देश्य हैं; केवल बतरस विशुद्ध, निरुद्देश्य, ब्रह्मानन्द सहोदर है। वह आदमी की पोशाक नहीं देखते हैं, उसकी मुखमुद्रा भी कम ही देखते हैं; लेकिन बातें सबकी बड़े ध्यान से सुनते हैं। पुत्ती गुरु कैसी धोती पहने थे, नाक पतली और नुकीली थी या चपटी, यह सब आपके ध्यान में शायद न आए लेकिन यदि 'अमृत और विष' आपने पढ़ लिया है तो पुत्ती गुरु का एक वाक्य सुनते ही आप कह देंगे, वह किसका वाक्य है। मानो नागर जी गोकुलपुरे वाले घर की छजली पर बैठे हुए लोगों की बातें भीतर से सुनते हों, उनकी शकलें उनकी आँखों से ओझल हों। हरफ़न मौला नागर जी बोली-बानी की नक़ल के फ़न में लासानी हैं।

पुत्ती गुरु अपनी पत्नी को डाँट रहे हैं—"कल को मैं रमेश की बरात लेके जाऊँगा और भाँग-ठण्डाई का इन्तज़ाम चौकस न होय तो मुझे कैसा क्रोध चढ़ेगा ई नहीं सोचते हैंगे ई लड़के औ न तुम कुछ सोचती हो।"

फिर ताँव खाकर बेटे के बारे में अपनी पत्नी से—"क्या किया तुमरे रमेस न, बोलो। ससुर जब देखौ तब अपने लड़कन का पच्छ। सारे खोट मेरे मन में ही हैंगे। राँड को इस बात का भी होस नहीं कि मैं न होता तो ये लौंडे ससरे कहाँ से आते ?"

रुप्पन लाला के सत्यानाश की कामना करते हुए पुत्ती गुरु—"हे भोलानाथ, आज रात में भैरव और वीरभद्र को भेज कर इस ससरे के घर में ऐसा चमत्कार फैलाओ कि ससरा सबेरे ही मेरे घर पर आय के कहे कि गुरु का चरण छूता हूँ, अपने लड़कों को समझाओ अनशन तोड़ें, मन्दिर अब नहीं बनेगा।" राजा रामचन्द्र के वंशज रग्घूसिंह की कन्या से उनका लड़का ब्याह कर रहा है; अब राजाराम

*उनके समधी हुए, तब उनके हाथ से भोग कैसे स्वीकार करेंगे ?* पुत्ती गुरु अपने इष्टदेव को समझाते हैं, "अरे नये ज़माने में तो ये सब चलता है भगवान लेव, आज पावो प्रेम से।"

पुत्ती गुरु क्रांतिकारी बेटे के बाप हैं। उससे लड़ते हैं, खीझते हैं, संन्यास ले लेते हैं, यहाँ तक कि एक बार कुएँ में भी कूद पड़ते हैं किन्तु बेटे को प्यार भी बहुत करते हैं, उस पर गर्व होता है, अखबार में काम करता है, लोग उससे नाराज़ हैं तो हुआ करें, पुत्ती गुरु अखबार वालों को शिवजी का गण मानते हैं, फिर उनका पुत्र तो राजाराम का दामाद है। कहते हैं—"ये अखबार वाले सब उन्हीं के भूत-गण हैं, उन्हीं के शंख मृदंग डमरू भेरी बजाय रहे हैं। हम ससुर तब काहे चिन्ता करें, काहे बोलें। हमसे तो रामजी ने कह दिया है कि जब तक काया चले, ब्रह्मचर्य से अपनी रोजी रोटी कमाओ और भाँग छान के चुप्प पड़े रहो। तुम्हारा लड़का हमारा दामाद है, सो अपनी लड़की के सुहाग की चिन्ता हम आप करेंगे।...*सो किये जाओ बेटा राम का काम, ये सोने की लंका तो फुंक के ही रहेगी।"*

पुत्ती गुरु बोलते क्या हैं, शब्द-शब्द में उनका व्यक्तित्व बोलता है। कोई पात्र चाहे थोड़ी देर को ही बोले, अपनी बोली से वह अपने व्यक्तित्व की विशेषता ज़ाहिर कर देता है। सहदेई की माँ कुछ समय के लिए ही उपन्यास में दर्शन देती हैं लेकिन लच्छू से उनकी यह वार्ता अविस्मरणीय है: "हम बचवा, यहि खातिर सबेरे-सबेरे आएँन कि अब तुमहूँ चले जैहो औ हमहूँ अपने काम पे चली जाब। और उयि के बाद तुमरी सहदेई के देखुवा आय रहे हैं उन्नाव जिला ते। कालिह साँझ की बिरियाँ उयि लिखा पे माँ धरि के आपन चिट्ठी पठाइन। तौन हम सहदेइया ते कहा कि बाँचो। तौन उयि लजाय गयी। फिर जब रात माँ तुमरे चाचा आये तौ हम उनते बँचवावा; तौन कहिन कि हमारा चसमा टूट गवा। हम रात भर छटपटाने के जाने का लिखा है। अवैया रहैं तौ का अव न अइहैं। तनी बाँच देव भैया, तो हमका समुझ परै।"

अवध के लोकगीतों की तरह ये वाक्य सरस हैं। इस लहजे, इस शैली में कितनी माताएँ, कितने युगों से अपने भाव प्रकट करती रही हैं। एक वृद्धा माँ के हृदय की कितनी पीड़ा इन धीरे-धीरे निकलने वाले वाक्यों में छिपी हुई है। यह एक चमत्कार है कि किसी लेखक की प्रतिभा ने इस लोकरस को यों साकार बना दिया है।

फिर खास शहरी लहजे में पंडित राजकिशन लच्छू से मिसेज माथुर के बारे में—"बरखुरदार, इस छिपकली से ज़रा होशियार ही रहिएगा। ये निहायत ही, कहना चाहिए कि बस अव्वल नम्बर की हरामज़ादी है। अपने खसम को तो इसने उल्लू का पट्ठा बना रखा है। तीसरी बीबी है न।"

रमेश का बहनोई ब्याह से पहले अपनी इंग्लिस्तानी झाड़ते हुए साले से—"सुन रहे हैं न आप! अनलेस एण्ड अनटिल आप इन लोगों के लिए कोई सुटेबुल अरेंजमेंट नहीं करते तब तक मैं शादी के किसी भी काम में शरीक नहीं होऊँगा, बतलाए देता हूँ।"

शरबती आँखों वाले कथावाचक महाराज भक्त-भक्तिनियों के बीच में : "और मेरे इस रुदन प्रलाप का उत्तर भगवान ने कैसे दिया, जानते हैं? आ-हा-हा, नटखट नन्दकिशोर ने अपनी जादू भरी खिलखिलाहट से मेरे अन्तर के गगन मण्डल में अनहद नाद गुंजरित कर गायन आरम्भ कर दिया—(उँगलियाँ फिर हारमोनियम की बारहखड़ी छूने लगीं और भक्तराज गाने लगे :

"कैद में है बुलबुल सैयाद मुस्कराए,
कहा भी न जाए चुप रहा भी न जाए।"

और व्यभिचारी पुत्रियों के पिता चोइथराम लच्छू से, "वरा मोटर वाला और बरा आदमी बन गिया हैंगा। हमारा बरा भाई के पास भी मोटर था करांची में...अब बीरी बी नईं, चाय का वास्ते भी आना-पावली नहीं, साली किस्मत का बात है। क्या करेंगा। एक लड़की रंडीपने में कतल हो गई—दूसरी रंडी का भी येच हाल होवेंगा।" एक समूचे जीवन का इतिहास, न जाने कितने ग़रीब शरणार्थियों की दारुण गाथा इन थोड़े से शब्दों में कह दी गयी है।

जब नागर जी अपने पात्रों में रम जाते हैं, तब स्वयं उनका गद्य लोक-शैली में ढल जाता है। रानी, "चढ़ते सुहाग के ग़ुमान में नैक-नैक फूलती भी जा रही है।" मिसेज माथुर ने लच्छू को ऐसी मादक दृष्टि से देखा कि, "वह सनाका खा गया।" अष्टग्रह सम्बन्धी भविष्यवाणी असफल होने पर धर्मभीरु बाबू ज्योतिषियों और ब्राह्मणों के प्रति, "कटुक वचन बोलने लगे।"

कहने का तात्पर्य यह है कि इस उपन्यास में बड़े-बड़े मजे हैं। चरित्र-चित्रण में जँचे, कथानक का आदि अन्त न समझ मे आए तो लोगों की बातचीत तो सुनाई देगी। सुनते रहिए और यह समझिए, एक मेले में से गुजर रहे हैं। इन्सान की बोली में कितना रस है, यह इस उपन्यास को पढ़ कर आप समझ सकेंगे।

किन्तु 'अमृत और विष' संवादों का निपटारा नहीं है, यह एक उपन्यास है जिसका गठन एक संघर्ष को लेकर हुआ है। यह संघर्ष समाज के रूढ़िवादियों, पुरान पंथियों, भारतीय संस्कृति का दंभ करने वाले ढोंगियों, पूँजीपतियों, उनके दलालों तथा नयी पीढ़ी के रास्ता खोजते हुए, अपने अधिकारों के लिए, जनता की सेवा करने वाले अपने ही भीतर पुराने संस्कारों से जूझते हुए नयी पीढ़ी के युवकों के बीच है। यह संघर्ष अनेक समस्याओं को लेकर होता है, अनेक स्तरों पर होता है और आदि से अन्त तक चलता है। अपनी बहन के ब्याह के सिलसिले में रमेश की दौड़-धूप से इस संघर्ष का आरम्भ होता है और रमेश की हत्या के

षड्यन्त्र में इसका अन्त होता है ।

रमेश एक गरीब बाप का बेटा है। बहन का ब्याह होता है। लच्छू के साथ वह सारे शहर का चक्कर लगाता है, कहीं भी बर्तन नहीं मिलते। हर जाति का अपना पंचायती बरतन-भंडार है। अमीरों की बरात में पी. ए. सी. बैण्ड, बैग-पाइप, हाहाकार बैण्ड, शहनाई, मोटरों की भीड़। रमेश बरात देख कर कहता है, "इन कैपिटलिस्टों के कम्पिटीशन में हम जैसों की मट्टी पलीद हो गयी।" बसन्तूमल हलवाई की विधवा भावज बिरादरी से अलग है, वही रमेश की सहायता करती है। ब्याह के दौरान रमेश विधवा रानी के निकट सम्पर्क में आता है। नव-युवक अपनी इच्छानुसार अपना जीवन-साथी चुन सकता है, इस अधिकार के लिए रमेश संघर्ष करता है। बेटा बाप को चुनौती देता है, "आप आज़ाद भारत में इस तरह दो शरीफ़ युवक-युवतियों को, जो कि बालिग हैं, समझदार हैं, स्वतन्त्र हैं, शरीफ़ आदमियों की तरह विवाह करके अपना संसार बनाना चाहते हैं, इस तरह अपमानित कैसे कर सकते हैं।" लच्छू के शब्दों में "बन्द गली महल्लों के नौजवान" प्रेम के अधिकार के लिए लड़ते हैं। पढ़ा-लिखा समाज सिद्धांत रूप में विधवा विवाह और अन्तर्जातीय प्रेम-सम्बन्ध को बहुत आसानी से स्वीकार कर लेता है किन्तु उसका व्यवहार बिलकुल भिन्न होता है। रानी को अपने घर में संघर्ष करना पड़ता है, रमेश को अपने यहाँ। साथी युवकों के अलावा समाज के कुछ समझदार प्रौढ़ लोग भी उनका साथ देते हैं। रमेश का पारिवारिक संघर्ष उसके राजनीतिक संघर्ष से घुल-मिल कर एक हो जाता है।

'अमृत और विष' हिन्दी का पहला उपन्यास है जिसमें युवकों की भावनाओं, आकांक्षाओं और संघर्ष का इतने विस्तार से चित्रण किया गया है। सिद्धान्त रूप में हर उपन्यासकार मानता है कि हमारा युवक समुदाय देश की महान् शक्ति है, राष्ट्र को बनाने-बिगाड़ने की क्षमता उसमें है। व्यवहार में जो अपनी कुंठाओं और अतृप्त वासना का जितना ही विशद चित्रण करता है उतना ही धुरन्दर माना जाता है। नागर जी ने बड़ी सहानुभूति से इन युवकों की हृदयगत भाव-नाओं को परखा और समझा है। इनके चारों ओर घोर कलुषमय वातावरण है। लोग सामन्ती वैभव के दिन याद करते हैं। राजा केशोराय की बारादरी में बसरे की रंडी का सात घूँघट का नाच हुआ था। "अरे सात घूँघट और तिस पर भी नंगी। राजा केशोराय आँखें मीचे बैठे देखा कि ये महाराज। ये भारती संस्कृति थी हमारी उस समै।" राजा केशोराय के वर्ग के एक प्रतिनिधि हैं लाल साहब जो अपनी पत्नी से कहते हैं कि उनके तीनों लड़के एक कहार की औलाद हैं। पत्नी लड़के को हुक्म देती है, "बबुआ, पाँच जूते मारो, सारे के। यही हरामी के पिल्ले की अम्मा कहार की रहै।" बाढ़ के दौरान रमेश सामंत वर्ग के ध्वस्त अवशेषों की काम लीला का बीभत्स रूप देखता है। लाल साहब वहीदन को बेंतों से मारते

हैं, फिर 'बलात्कार की मुद्रा में' उस पर आक्रमण करते हैं, "विलासी अतृप्त प्रेतात्माओं का तांडव।" भाँग अफ़ीम, शराब, हद तरह के नशे का चलन है। नर-नारी-कामाचार के अतिरिक्त अप्राकृतिक व्यभिचार भी छिप-छिप कर होता है। इसके साथ अष्टग्रह, ज्योतिष, सैकड़ों रूढ़ियाँ और धर्म के नाम पर अन्ध-विश्वास हैं। समाज का यह पुराना ढाँचा टूट रहा है, उसकी पुरानी सस्कृति नष्ट हो रही है, नवयुवकों की पीढ़ी उससे जूझ रही है, उस कालिमा से स्वयं प्रभावित होती है और अपने भीतरी संघर्ष मे भी उलझती है।

छैल बिहारी अपने बाप का इकलौता बेटा है। उसके घर में एक नरवेश्या का राज्य है। पिता रसिक बिहारी ने अपनी वासना के खिलौने बुलाकी को घर में रख छोड़ा है। बुलाकी २७-२८ वर्ष का है। नाराज होने पर बुलाकी छैलू की माँ को पीट भी देता है। छैलू की सहनशीलता का बाँध एक दिन टूट जाता है। उसने "बुलाकी को ज़ोर से धक्का दे कर गिरा दिया और उसकी गर्दन पकड़ कर दो-तीन बार ज़मीन पर दे मारी।" बाप-बेटे में लड़ाई हुई। बाप ने मारने को हाथ उठाया तो बेटे ने बेंत उठा लिया। छैलू ने बुलाकी के सन्दूक तोड़े, उसके रेशमी और ऊनी सूट फाड़ डाले, उसकी तसवीरें फाड डालीं, सिंगार-पिटार का सामान तोड़ा। छैलू अकेला नही है। इस घरेलू संघर्ष मे तरुण छात्र सघ के सदस्य उसके साथ हैं। गोटेवाले बुलाकी को दबोच लेता है, इजारबन्दों से कम्मी और हर्रो उसके हाथ-पैर बाँध देते हैं, उसकी हजामत बनाते हैं, जमाल गोटे की टिकिया खिला कर पानी पिलाते हैं फिर लांत मार कर उसे गली के वाहर निकाल आते हैं। बारादरी वाले संघर्ष में क्रुद्ध छैलू मंदिरो में आग लगा देता है। वह अभी संगठन का महत्त्व नहीं समझता। सोचता है, 'इन सब अत्याचारों का बदला अकेला मैं ही ले लूँगा।' उसके कार्य बचकाना और अराजकतावादी हैं। युवकों का रास्ता साफ़-सुथरा, बना-बनाया, आसान नहीं है। रास्ता बनाने मे वे गल-तियाँ करते हैं, सीखते हैं, सँभलते हैं, फिर आगे बढ़ते हैं। इनमे विभिन्न जातियों और वर्णों के लोग हैं; सामन्ती अलगाव से ऊपर उठ कर वे एक नयी भारतीय एकता की ओर बढ रहे हैं। उनमें कमज़ोरियाँ हैं, सभी सूरमा नहीं हैं। बाढ़ के पानी मे नाव पर हर्रो को बेहद डर सताता है। हर्रो को अपने "मित्रों से भी शिकायत है—किसी ने उसे एक भी प्रेमिका नहीं दिलवायी।" वह सच्चा अस्ति-त्ववादी है। "हर्रो के सामने स्वतन्त्र अस्तित्व ही का तो प्रश्न है। बचपन में कुछ कामाचारी अध्यापकों और पड़ोसी वयस्कों के द्वारा जबर्दस्ती उनका भोगपात्र बनने की अपनी विवशता से उसने विद्रोह किया था। वह पुरुष के रूप में अपना अस्तित्व उनाए रखना चाहता था। और इसी पौरुष को पाने के लिए वह नारी का भूखा था—फिर भूखा, विवश भूखा।" और अन्त में चार बच्चों की माँ एक प्रेमिका उसे मिल ही जाती है।

ये युवक अपना एक छोटा-सा संगठन बनाते हैं—तरुण छात्र संघ। कोई राजनीतिक दल उनका पथ-दर्शन नहीं करता। ये अपना रास्ता स्वय बना रहे हैं। आज के भारत के इस तरुण छात्र संघ का वही महत्त्व है जो नाजी हमले के दौरान फ़ादचेय के तरुण दल का था। ये युवक अपनी सेवा से समाज के बहुत से ईमानदार लोगों को अपने पक्ष में कर लेते हैं। बाढ़ के दिनों में इनके द्वारा किया गया काम सराहा जाता है। चुनाव के समय सरकार की क्रान्तिकारी नुक्ताचीनी करने वाली और शेष समय जनता की मुसीबतों से उदासीन रहने वाली राजनीतिक पार्टियों से भिन्न ये युवक आपत्तिकाल में जनता की सेवा करते हैं। ये युवक ध्वंसक ही नहीं है, रचनात्मक कार्य करने वाले भी हैं। 'चालीस-पचास घरों की औरतें तो केवल इसी पक्ष में थीं कि उनके लड़के रोज यहाँ पढ़ने आते हैं। बड़े लड़कों की प्रशंसा इसलिए भी हो रही थी कि ये छोटे लड़कों को पढ़ाते हैं।' लड़कों का काम पढ़ना और समाज सेवा करना दोनों है। उपन्यासकार के शब्दों में—'यह सच है कि जहाँ तक लड़कों का सवाल है यह वार्ड और इनमें भी विशेष रूप से ये दस-बारह टोले-महल्ले पिछले दस-बारह वर्षों से तरुण छात्र संघ के बड़ा ऋणी हैं। लड़कों की सामूहिक पढ़ाई और उनके अनुशासन का पूरा भार इस संघ ने सम्हाल रखा है। हर साल परीक्षाफल में संघ के लड़के औरों से मीर साबित होते हैं।'

यदि कभी कोई उत्तर भारत में बड़े पैमाने पर युवकों और छात्रों के संगठन जैसा साहित्येतर काम करना चाहे तो मैं उससे अनुरोध करूँगा कि 'अमृत और विष' को दो-तीन बार खूब मनोयोग से पढ़ जाए। पहले तो भारत के युवक को पहचानिए। उसके पारिवारिक संघर्ष और उसकी राजनीतिक आकांक्षाओं को समझिए। कुन्दन-सा चमकता हुआ उसका देश-प्रेम उसकी बहुत बड़ी निधि है। यह निधि एक दिन उसे सचमुच नये भारत का निर्माता बनाएगी, इस बात पर हृदय से विश्वास कीजिए। ये तरुण छात्र संघ के युवक किस तरह की ग़लतियाँ करते हैं, किस तरह के कामों से उन्हें जनता की सहानुभूति मिलती है। किस तरह अपने शत्रुओं को ये आम जनता से अलगाते हैं—यह सब राजनीतिज्ञों के लिए अध्ययन-मनन की वस्तु है। पाठक गणेश गोडबोले की इस उक्ति से सहमत होंगे—'साहब, जिस तरह से ये लड़के पिछले दस बरसों से अपना संघ चला रहे हैं वह तो मैं कहता हूँ, राष्ट्रीय सम्मान पाने योग्य काम है।" रमेश की बात में बहुत बड़ी सचाई है, 'देश के नवयुवकों का विकास हमारे सघ जैसे संगठन केन्द्रों से ज्यादा होगा, मन्दिरों से नहीं।'

*ये लड़के अपनी बारादरी के लिए वैसे ही लड़ते हैं जैसे 'रंगभूमि' का सूरदास* अपनी जमीन के लिए लड़ता है। और यह संघर्ष शुद्ध कलाप्रेमियों को वैसे ही नापसन्द है जैसे प्रेमचन्द का साहित्य उन्हें छिछला और सतही मालूम होता है।

रमेश बापू से मार खाता है, बारादरी के लिए अनशन करता है। उधर उसके मित्र कम्मी की अहिंसावाद में विशेष आस्था नहीं है। वह सेठ के गुमाश्ते की मरम्मत कर देता है। लड़के अखबारों पर लाल, नीली स्याही से पोस्टर लिखते हैं। उनके नारे हैं, 'मन्दिर पर मन्दिर नहीं बनेगा', 'पूँजीपतियों को जनता की मिल्कियत हजम करने का अधिकार नहीं है।' उनके लिए बारादरी मंदिर है क्योंकि लड़के उसमें पढते हैं। रुप्पन लाला की चाल है कि मंदिर बनवाने के नाम पर उस जमीन को हड़प लिया जाए। लाला जी भारतीय संस्कृति के बहुत बड़े प्रेमी बन गये हैं। "और मैं तो कहता हूँ कि आप लोग जरा भारतीय संस्कृति की दृष्टि से गौर कीजिएगा इस बात पर अगर आपका सनातन धर्म लोप हो गया तो फिर हिन्दुस्तान में बचेगा क्या ?' और रुप्पन लाला तैश में आकर पुनः—"भाई साब, आज वो मन्दिर नई बनने देंगे, कल कहेंगे कि पूजा बन्द करो। परसों धर्माचार बिगाड़ेंगे, जातपांत तोड़ेंगे तो फिर भारतवर्ष में भारती संसकिर्त का रही क्या जाएगा ?• बोलिए, नास्तिकता फैल जाएगी कि नहीं। औ मैं तो कहता हूँ बाबूजी कि ये सब चीन की चाल है।"

यही लोग आगे चल कर अपने स्वार्थों के लिए दंगे कराते हैं। रुप्पन लाला ही कहते हैं, "लड़कों से लड़कों की पटा बनेठी करवा दीजिए···औ महजिद भी तो जलाई हैगी इन लोगों ने। अपने गोटे वाले मुसलमान कारीगरों को भड़ी पे क्यों नयीं चढ़ा देते आप लोग।···एक जलूस तगड़ा-सा मुसलमानों का भी निकल जाए आज शाम तलक। और दिन में ढिढोरा पिटवाय के इसी केशोराय के टीले पे बड़ी भारी पब्लिक मीटिंग हो।···देओ साली कांगरेस को गालियाँ, निकालो इनजवाहर-लाल आत्माराम जैसों की अर्थियाँ। हजार दो हजार जो भी खर्च होगा हम देंगे।" नतीजा यह कि 'सौ डेढ़ सौ लड़कों ने हाकी डंडे लेकर तरुण छात्र संघ वालोंके घरों में घुस-घुस कर लड़कों को पीटा। उनके यहाँ की चीजों को तोड़ा-फोड़ा। बचाने के लिए झपटने वाली स्त्रियों को भी बेरहमी से धक्के दिये गये।'

पुलिस की शक्ति का उपयोग तरुण छात्र संघ के खिलाफ़ होता है। रमेश और उसके साथी पकड़ लिये जाते हैं। "संघ में आने वाले हर लड़के का पता लगा-लगा के पुलिस ने उन्हें और उनके घर वालों को सवालों और अपने बेहूदेपन से तंग करना शुरू कर दिया।' छात्रों का सघर्ष चरम सीमा को पहुँचता है, बारादरी को लेकर लेकिन वह जारी रहता है उसके बाद भी, सन्' ६२ के चुनावों तक। पूँजीपतियों के आपसी संघर्ष, समाजवादी, पूँजीपति, पूँजीवादी, मजदूर-संघ लच्छू जैसे युवकों का अवसरवाद, पत्रकार के रूप में रमेश का संघर्ष—यह सब बारादरी की लड़ाई के बाद देखने को मिलता है। संघर्ष के अन्त में किसी एक पक्ष की स्पष्ट विजय नहीं होती। पूँजीवाद समाप्त नहीं हो गया, तरुण छात्र संघ ने समाजवाद स्थापित नहीं कर लिया। रमेश की हत्या का षड्यंत्र संघर्ष की एक

मंजिल का चरमबिन्दु है। केवल एक मंजिल खत्म हुई है; संघर्ष की मंज़िलें आगे अभी और भी हैं। आज के भारत की यही स्थिति है।

इस उपन्यास की एक विशेषता स्त्रियों का संघर्ष है। पूँजीवादी समाज में सबसे ज्यादा शोषण की यन्त्रणा उन्ही को सहनी पड़ती है। सिन्धी लड़कियों के साथ सहदेई जिस घर में रहती है वह साक्षात् नरक है। लेकिन पुत्ती गुरु की पत्नी पति के विरुद्ध पुत्र का पक्ष लेती है। कुँवर रद्घूसिंह के विरुद्ध सुमित्रो चूल्हे की जलती लकडी हाथ मे ले कर खड़ी हो जाती है। रमेश रानी को मंत्र देता है : 'और तुम लड़कियों का मोर्चा संगठित क्यों नही करती हो, घर-घर मे आग लगाओ जाय के।' अभी लड़कियाँ सगठित नहीं हुईं; उनका कोई संघ नही है। शायद नागर जी के दूसरे उपन्यास तक यह भी हो जाए।

उपन्यास का आदि रमेश की बहन के ब्याह से, अन्त उसकी हत्या के षड्यन्त्र से। कथा का नायक कोई नही है कथा नायक-नायिका की नहीं है, न आदर्श क्रान्तिकारियों की है। यह पूँजीवादी समाज में पले हुए नये जीवन की तड़प लिए भारत के युवकों के बाह्य और आन्तरिक संघर्ष की गाथा है। कथा का प्रवाह बन्द नहीं है, परिस्थितियाँ बदलती है और उनके साथ युवकों के चरित्र में उत्थान-पतन होते है। किशोर मन के पाठकों को इस कथा में रस न मिले तो आश्चर्य नही है। उनका मन बछड़े की तरह है जो कथासूत्र द्वारा एक खूँटे से बँध कर रहना चाहता है; जब कथासूत्र उलझता है, तब वह खूँटा तुड़ा कर भागता है। इस उपन्यास में यदि कोई कमजोरी है तो यह कि डा० आत्माराम और उन जैसे कुछ अन्य लोग युवकों की मुश्किलें हल करने के लिए बहुत जल्दी सुलभ हो जाते हैं। प्रेमचन्द ने आश्रम बनाना सन् बीस के बाद बन्द कर दिया था। 'गोदान' का अंत धनिया के पछाड़ खा कर गिरने से होता है आश्रम बनाने से नहीं। आत्माराम आदि जिस तरह रमेश और उसके मित्रों की सहायता करते हैं, वह सन् बीस के प्रेमचन्द की झलक है, 'गोदान' के बाद आगे बढ़ा हुआ क़दम नही। वैसे यदि डा० आत्माराम किसी अमरीकी न्यूज़ पेपर मैगनेट की याद दिलाते हैं, तो इसे नागर जी की सफलता ही माना जाएगा।

इस उपन्यास में बहुत से पात्र हैं किन्तु वे थोड़ी देर को मिलें तो भी अपनी सजीवता की छाप छोड़ जाते हैं। इस कथा में पात्र ही नहीं हैं, उनका जन-संकुल परिवेश भी है। इसी कारण दो पीढ़ियों का सघर्ष अपने समस्त वातावरण के साथ सजीव रूप मे पाठक के मन पर छा जाता है। इन पात्रों की नियति आज के भारत की नियति है; इनकी गति स्वाधीन भारत के तरुण समाज की गति है। पूँजीवाद के सूत्रों से व्यष्टि और समष्टि दोनों बँधे हुए हैं। समाज-मंथन में अभी विष ही ज्यादा प्रकट हो रहा है किन्तु अमृत का नितान्त अभाव नहीं है। जो भी

आज के भारत को, भारत के तरुण समुदाय को, आज की राजनीतिक-सामाजिक समस्याओ को सहानुभूति से समझने-परखने का प्रयत्न करेगा, उसे अमृतलाल नागर के इस उपन्यास से वैचारिक उत्तेजना अवश्य मिलेगी। मेरा विश्वास है कि उसे भावनात्मक उत्तेजना भी मिलेगी।

# ११ | यशपाल जी का झूठा-सच

'झूठा-सच' यशपाल जी के उपन्यासों में सर्वश्रेष्ठ है। उसकी गिनती हिन्दी के नये-पुराने श्रेष्ठ उपन्यासों में होगी—यह भी निश्चित है। पहले भाग में ५३७ और दूसरे भाग में ७०६ पृष्ठ हैं। इतने पृष्ठ लिखना ही बहुत बड़ी मेहनत का काम है, उन्हें कलात्मक ढंग से लिखना जीवन की बड़ी सफलता मानना चाहिए।

उपन्यास की कथावस्तु का क्षेत्र काफी व्यापक है। भौगोलिक दृष्टि से उसका प्रसार लाहौर से दिल्ली और लखनऊ तक है। काल-क्रम के विचार से कथा का आरम्भ स्वाधीनता-प्राप्ति के पहले से होता है और उसका अन्त स्वाधीनता प्राप्ति के उपरान्त की झांकी से होता है। पात्रों के विचार से इसमें विभिन्न जातियों, वर्गों, राजनीतिक पार्टियों और अवस्था के नर-नारियों का चित्रण है। इस तरह यह उपन्यास हमारे सामाजिक जीवन का एक विशद चित्र उपस्थित करता है।

इस उपन्यास का राजनीतिक महत्व यह है कि वह जनता को देश की प्रतिक्रियावादी शक्तियों का वास्तविक घृणित रूप दिखलाता है, उनसे जनता को सावधान रहना सिखलाता है। ये शक्तियाँ अभी समाप्त नहीं हुई वरन् धर्म और संस्कृति के नाम पर अब भी जनता के कुछ हिस्सों को गुमराह करती है और हत्या, दंगे, नरमेध संगठित करने में सफल हो जाती हैं। जो बातें पहले जबानी प्रचार से आरम्भ होती हैं, उनकी परिणति स्त्रियों को बेइज्जती, बच्चों की हत्या, बूढ़ों-नौजवानों की अकाल मृत्यु में होती है। इस बर्बरता को जड़ से खत्म करना आज भी हमारा राष्ट्रीय कर्तव्य बना हुआ है।

उपन्यास में कांग्रेस के अवसरवादी नेतृत्व पर काफी ध्यान केन्द्रित किया गया है। स्वाधीनता-प्राप्ति से पहले इस नेतृत्व ने क्रांति से भय खाकर समझौते का रास्ता अपनाया। इस समझौते की परिणति देश के बँटवारे और लाखों स्त्रियों-पुरुषों के स्थान बदलने तथा हत्याकांडों के संगठन में हुई। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद इस अवसरवादी नेतृत्व ने जनता की आशाएँ पूरी नहीं कीं वरन् झूठे वादों से उसे बहका कर अपने वर्ग-स्वार्थ सिद्ध किये। यह नीति किस तरह अमल में लाई

जाती है, इसकी झाँकी भी उपन्यास में दिखाई गई है।

इस उपन्यास का सामाजिक महत्व यह है कि वह वर्तमान समाज में नारी की पराधीनता, उसकी घुटन और अपमान, व्यक्तिगत संपत्ति की तरह उसके क्रय-विक्रय की जघन्यता को स्पष्ट करता है। इस प्राचीन सामन्ती बंधनों से मुक्ति पाना कितना कठिन है, नारी किस वीरता से इनके प्रति विद्रोह करती है, स्वयं उसके संस्कार किस तरह उसकी मुक्ति में बाधक होते हैं—इस सब का मार्मिक चित्रण उपन्यास में हुआ है।

उपन्यास के मुख्य पात्र जयदेव पुरी का चित्रण यशपाल जी ने पूर्ण तल्लीनता से किया है। जितना वह उसके अतरंग जीवन से परिचित हैं, उतना और किसी पात्र के जीवन से नहीं। यदि पूरी आत्मकथा लिखने बैठता तो भी शायद इतनी बारीकी, गहराई और सच्चाई से एक क्षुद्र, महत्वाकांक्षी और अनैतिक युवक की कहानी न कह पाता। उसके लिए नैतिकता के दो मानदंड हैं—एक अपने लिए और दूसरा अपनी बहन के लिए। वह अपने मिथ्या आत्म-सम्मान के लिए नीच से नीच काम करने और किसी तरह की भी झूठी बात कहने के लिए तैयार हो जाता है।

इस उपन्यास में यथेष्ट करुणा है। भयानक और वीभत्स दृश्यों की कमी नहीं है। श्रृंगार रस को यथासंभव मूल कथावस्तु की सीमाओं में बाँध कर रखा गया है। हास्य और व्यंग्य ने कथा को रोचक बनाया है और उपन्यासकार के उद्देश्य को निखारा है। उपन्यास में जगह-जगह पंजाबी भाषा और लोक-गीतों का सौंदर्य झलक उठता है।

शीलो के चरित्र में लेखक ने भारतीय नारी के दबे हुए शौर्य का चित्रण किया है। पाठक को लगता है कि तारा में यदि शीलो की वीरता का थोड़ा अंश और होता तो वह अपनी इच्छा के विरुद्ध विवाह करने से बच जाती। तारा को डाँट कर शीलो कहती है—'लानत है ऐसी लड़की पर जो ऐसे बेहिम्मते पर मरे और लानत है ऐसे मर्द पर जो प्रेम करे और हिम्मत न हो!'

बंती का दुःखमय अन्त तारा की करुण कथा से भी अधिक हृदय-द्रावक है। पति से बिछुड़ गई थी लेकिन जब भटकती हुई मिली तो घरवालों ने दरवाजे बंद कर लिये। चौखट पर सर पटक-पटक कर वह जान दे देती है लेकिन न तो कोई घर के दरवाजे तोड़ता है, न कोई बंती को मरने से बचा पाता है। तारा स्वयं बहुत कमजोर है। 'उसके घुटनों के समीप बंती का शरीर पड़ा था। चेहरा खून से लथपथ, मक्खियाँ बैठ रही थीं। समीप अनतहाया कोरा लाल कपड़ा गली के फर्श पर पड़ा था।' इस दृश्य के लिए मुसलमान जिम्मेदार न थे; बंती का बलिदान हिन्दू रूढ़िवाद की चौखट पर हुआ।

एक पंजाबी किसान का बच्चा भूखा है। वह किसी के आगे हाथ पसारना

नहीं चाहता। कहता है, 'मैं क्या अपाहिज मँगता हूँ ? मैं किसान आदमी हूँ। मेरे हाथ-पाँव अभी टूट नही गए। मैने उमर-भर ब्राह्मण, नाई, कमीन और फकीर को चुटकी देकर, दस आदमी को खिला कर खाया है। मैं आटे के लिए किसी के आगे हाथ पसारूँ ?' इस तरह के किसान ही देश के नव-निर्माण की आशा हैं।

लोग रेलगाड़ियो पर हमले करते हैं। नगी स्त्रियां नीलाम की जाती हैं। इसके साथ भाईचारे के दृश्य भी हैं जो भारतीय जनता की मैत्री और एकता में विश्वास दृढ़ करते हैं। काली ने इमामबक्श का हाथ अपने दोनों हाथों में लेकर समझाया—"ताया, यह सब पागलपन दो दिन का है। जो भाग कर गये हैं वे भी चार दिन में लौट कर आएँगे। पाकिस्तान हुआ तो क्या और हिन्दुस्तान हुआ तो क्या ? हम लोग तो लाहौरी है, डूंगी गली के पड़ोसी हैं। चल बैठ तू घर में ! तेरी दुकान जल गई है तो और बन जायेगी ! रब्ब का भरोसा कर !"

पुस्तक में चित्रित घटनाएँ भारतीय राष्ट्रीयता को चुनौती हैं। यथार्थ जीवन में जो कुछ पतनशील है, उसका सामना किये बिना नये समाजवादी भारत का निर्माण नहीं हो सकता।

इस उपन्यास में कुछ कमजोरियाँ हैं जिनका उल्लेख करना आवश्यक है। पहला खंड दूसरे की अपेक्षा अधिक सजीव है। दोनों खंडों की विषय-वस्तु और कथाशिल्प में इतना अन्तर है कि उन्हें एक ही उपन्यास का अग कुछ पात्रों की समानता के आधार पर ही माना जा सकता है। अखबारों और रेडियो की खबरों के सहारे कहीं-कहीं अनावश्यक कलेवर-वृद्धि की गई है। पंजाब के सामाजिक जीवन के चित्रण में यशपाल को स्वभावत: अधिक सफलता मिली है, किन्तु इस सामाजिक जीवन में उनका केन्द्र-विन्दु मध्यवर्गीय हिन्दू परिवार है। उन्होंने सिखों के पारिवारिक जीवन का चित्रण नहीं किया। मुसलमानों के घरों का चित्रण बहुत छोटे पैमाने पर किया है। इससे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि यशपाल जी अब भी मुख्यत: मध्यम वर्ग के चितेरे हैं; वह किसानों और मजदूरों को दूर से देखते हैं, निकट से, आत्मीयता से उनका चित्रण नहीं कर पाते। देश का विभाजन, लाखों मनुष्यों का स्थानान्तरण, भयानक दंगों का संगठन, पंजाब से लेकर उत्तर प्रदेश तक के सामाजिक जीवन में उथल-पुथल—कथा की इस विशदता को देखते हुए श्रमिक जनता के चित्रण का अभाव खटकता है।

मध्यवर्ग का चित्रण करते हुए लेखक स्वयं उस वर्ग के दृष्टिकोण से प्रभावित हो जाता है। देश में जो भयानक काण्ड हुए, उसके पीछे काम करने वाली शक्तियों पर वह ध्यान केन्द्रित नहीं कर पाता। दूसरे शब्दो में वह ब्रिटिश साम्राज्यवाद और भारतीय सामन्तवाद की प्रतिक्रियावादी भूमिका को न स्पष्ट समझता है, न उसे उपन्यास में चित्रित कर पाया है। अधिक से अधिक वह भारतीय पूंजीवाद के ढुलमुलपन को देख पाता है। लेकिन मध्यवर्ग की एक विशेषता यह है कि वह

पूंजीपतियों की आलोचना करते हुए उन्हीं का सा जीवन बिताना चाहता है। इसीलिए जयदेव पुरी और उसकी बहन तारा दोनों ही इसी पूंजीपति वर्ग के चाकर बनने में अपने जीवन की सफलता देखते हैं।

तारा अण्डर-सेक्रेटरी बनी; नारी कल्याण केन्द्रों की अध्यक्ष हुई। अब उसे अच्छा मकान ही नहीं, मोटर की ज़रूरत भी महसूस होती है। "बरस-भर तक कई गाड़ियाँ नापसन्द करते-करते ऐसी उमंग आई कि सरकार से कर्ज लेकर बिलकुल नयी और बड़ी गाड़ी खरीद ली। वह गाडी तारा की पूरी कमाई और कर्ज समेट कर उसका सर्वस्व बन गई थी। काले नग की तरह उज्ज्वल, क्रोमियम की पत्तियों की रेखाओं से बंधी, भीतर लाल मखमली कार्ड से मढी उस गाड़ी से अधिक चिन्ता और रखवाली की वस्तु संसार में तारा के लिए दूसरी नहीं थी।"

उसने जीवन में जो कुछ देखा-सुना था, समाज को भीतर से जितना पहचाना था, उससे उसमें क्रान्तिकारी उत्साह जाग्रत नहीं होता। उसका ध्येय किसी तरह आराम से जिन्दगी बिताना भर हो जाता है। इस आराम की जिन्दगी के लिए वह आत्मसम्मान की भावना को दबाती है; अपनी मुस्कान बिखेर कर वह बिजनेस करती है। यशपाल जी का व्यंग्य यहाँ सो जाता है; वह तारा का पतन देखकर भी देख नहीं पाते।

दो आदमी शराब पी रहे हैं। सामने तारा है। "रावत ने अगरवाला पर क्रोध दिखाया—'क्यों लाला क्या मतलब है? लड़की को कब्जे से निकल जाने देना नहीं चाहते?"

'जनाब मेरी क्या औकात।' अगरवाला हँस दिये, 'मैं आपके मुकाबिले कैसे आ सकता हूँ!'

तारा को अपने सम्बन्ध में मजाक अच्छा नहीं लगा परन्तु खुशामद में सराहना के लिए उसने रावत की ओर आँख उठाकर जरा मुस्करा दिया।

'यह देखिये!' अगरवाला बोल उठे, 'आप ही के सामने ब्लश करती हैं। हमारे सामने तो मुस्कराती भी नहीं।'

तारा ने झेंप कर अगरवाला की ओर भी देखकर मुस्करा दिया ताकि किसी भी ओर झुकाव न समझा जा सके।"

सामाजिक जीवन को इस अवसरवादी दृष्टिकोण से देखने-परखने पर सभी राजनीतिक कार्यवाही व्यर्थ मालूम होती है। स्वाधीनता-प्राप्ति से पहले भारतीय जनता की निष्क्रियता को यशपाल जी ने बहुत बढ़ा-चढ़ा कर देखा है। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भी यह जनता निष्क्रिय बनी रहती है और कम्युनिस्ट पार्टी व्यर्थ उत्पात मचाती दीख पड़ती है। तारा से पूछा जाता है, वह किसी राजनीतिक पार्टी की सदस्या तो नहीं है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और कम्युनिस्ट पार्टी से सम्बन्ध या सहानुभूति तो नहीं है। तारा का उत्तर है—'जी नहीं'। और इसका

कारण उपन्यासकार के शब्दों में यह है—'कानपुर, कलकत्ता और बम्बई की हड़-तालों के समाचारों के पश्चात् ऐसा उत्तर देने में उसे कोई संकोच नहीं था। व्यर्थ उत्पात खड़ा करने वाले लोगो से वह सहानुभूति करना नहीं चाहती थी।'

यही तारा 'खुशामद में' सराहना के लिए रावत की ओर आँख उठाकर मुस्करा देती है। आगे भी लिखा है, 'नये उठते संगठनों में से राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और कम्युनिस्ट पार्टी ने विद्रोह खड़ा करके कांग्रेस सरकार को उन्हें कुचल डालने का कानूनी अवसर दे दिया था।' मजे की बात यह है कि पुरी ने गाँधीजी की हरिजन टिप्पणियों के साथ 'कम्युनिस्टों के पत्र क्रासरोड में प्रकाशित पूंजी-पतियों के प्रति सरकार के पक्षपात की नीति की आलोचना के लेखों को संक्षिप्त और सरल बनाकर, सर्वसाधारण के दृष्टिकोण से 'नाजिर' में पेश करने का काम' कनक को सौंप दिया था। कम्युनिस्ट पार्टी के अखबार की सामग्री से अपना बिज-नेस चमके तो इसमें कोई दोष नहीं है; जब वर्ग-स्वार्थ पर आँच आये तब कहना चाहिए कि उसने सरकार को दमन-चक्र चलाने पर मजबूर किया।

अन्तिम बात जातीय समस्या के बारे में। यशपाल जी पंजाबी भाषा को हिन्दी की बोली मानते हैं, स्वतन्त्र भाषा नहीं। उपन्यास में उन्होंने जहाँ पंजाबी का प्रयोग किया है, साधारणतः वहाँ उसका हिन्दी अनुवाद भी दे दिया है। पंजाबी का विरोध करने वाले हिन्दुओं के बारे में उन्होंने लिखा है, 'वे पंजाबी बोलते थे, पंजाबी बोली में ही पंजाबी को न सहने के लिए हुंकारते थे।'[1]

भाषा के सम्बन्ध में यशपाल जी के जो भी विचार हों, उन्होंने पात्रों में पंजाबी जातीयता पर गर्व दिखाया है। तारा कहती है, 'पंजाबी तो कहता है मैं तुमसे किस बात में कम हूँ। मेरी तनख्वाह-जायदाद से तुम्हें क्या मतलब ? पंजाबी अपनी कठिनाई या दीनता प्रकट नहीं करना चाहता···।'

यह गर्व उचित है किन्तु कभी-कभी वह दूसरों के प्रति घृणा के प्रदर्शन में भी बदल जाता है। कान्ता कहती है–'यह क्या इन लोगों का कायदा है, दूसरों की स्त्रियों के साथ उठना-बैठना अच्छा लगता है, अपनी स्त्रियों को पर्दे में रखते हैं?' आगे कहती है—'यू० पी० की औरतें पान में तम्बाकू भी खाती हैं।"

शायद यू० पी० वालों की रुखाई प्रसिद्ध है। गिल कहता है—'उसने यू० पी० वालों की तरह रूखा-सा जवाब दे दिया था।'

एक पंजाबी कहता है—"दरिया में बाढ़ आ जाती है तो तुम्हारे यहाँ के लोग पंजाब भर में माँगते फिरते हैं। किसी पंजाबी को माँगते देखा है ?"

इस जातीय दंभ की जैसी कड़ी आलोचना होनी चाहिए, वैसी इस उपन्यास में नहीं है। कभी-कभी पाठक अनुभव करता है कि उपन्यासकार को भी हिन्दी-भाषी जाति की संस्कृति से विशेष सहानुभूति नहीं है।

१. देखिये, दूसरा भाग, पृष्ठ ४१७

# १२ दिनकर की उर्वशी : दो दृष्टिकोण

दिनकर, यशपाल और अमृतलाल नागर की पीढ़ी के लोग अपने-अपने क्षेत्र में साहित्य के उत्कर्ष के लिए जैसा प्रयत्न कर रहे हैं, वह साहित्य के इतिहास की स्मरणीय घटना है। इलाचन्द्र जोशी ने दमित कामेच्छाओं के दायरे से आगे बढ़ कर 'जहाज का पंछी' लिखा। श्री भगवतीचरण वर्मा ने 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' छोड़कर सीधी राह पर 'भूले बिसरे चित्र' का निर्माण किया। यशपाल जी ने दादा कॉमरेड, मनुष्य के रूप की परिपाटी से काफी परे हट कर 'झूठा-सच' लिखा। श्री अमृतलाल नागर ने अपनी पूर्व सुनिश्चित राह पर आगे बढ़ते हुए 'बूंद और समुद्र' की रचना की। जैसे सन् २० से ४० तक के दो दशक हिन्दी साहित्य में अभूतपूर्व उत्थान के दशक थे, वैसे ही ५२ से ६२ तक का यह दशक भी साहित्य में नये प्रयत्नों, नये उत्कर्षों का दशक है। कुण्ठावादी अजायबघर के मित्र देखें, किस तरह हिन्दी साहित्य समर्थ डग रखता हुआ आगे बढ़ रहा है और उसका यह प्रशस्त राजमार्ग कोल्हू के बैल के घुटन-चक्र से कितना भिन्न है। कवि दिनकर की कृति 'उर्वशी' को इसी उत्कर्ष-सन्दर्भ में देखना चाहिए।

'उर्वशी' दिनकर जी की सर्वोत्कृष्ट रचना है। यह वास्तव में उनका शिखर ग्रंथ है। इसकी रचना के पीछे उनका भगीरथ प्रयास है, यह असन्दिग्ध सत्य है। यह प्रयास अक्षम कवि का असफल महत्वाकांक्षी प्रयास नहीं है। यह एक ऐसे कवि का प्रयास है जो कुरुक्षेत्र में पर्याप्त सफलता पा चुका था लेकिन जो उस तरह की सफलता से संतुष्ट न होकर नये चिन्तन और नई अनुभूतियों की ओर बढ़ा है, उसने नई समस्याओं से उलझने और उन्हें सुलझाने का प्रयत्न करने का साहस दिखाया है। सामयिक कविता की उपलब्धियाँ, उसके आयाम और उसकी विधाएँ, इस मेरु के आसपास उगे हुए झाड़-झंखाड़ जैसी लगती हैं। कल्पना और यथार्थ, दर्शन और शृंगार के अद्भुत सम्मिश्रण के कारण यह ग्रंथ प्रत्येक मनीषी कवि और काव्य-प्रेमी के चिन्तन अध्ययन और रसास्वादन का केन्द्र बनेगा।

अधिकांश महत्वपूर्ण कलाकृतियों के समान 'उर्वशी' निर्दोष नहीं है, सम्भवतः

उसमें कामायनी, राम की शक्ति पूजा और पल्लव से दोष अधिक हैं। दिनकर जी ने बहुत-सी ऐसी बातें कही हैं जो पूर्ववर्ती साहित्य में विद्यमान हैं, किन्तु कुछ बातें ऐसी भी कही हैं जो शायद पूर्ववर्ती साहित्य में नहीं हैं, या उन्हें कहने वालों से मैं परिचित नहीं हूँ। इन्हें कहने के लिए, और अन्य बहुत-सी बातों को नये ढंग से दोहराने के लिए भी, दिनकर जी अभिनन्दनीय हैं। उर्वशी शृंगार रस की परंपरागत आलम्बन है, फिर भी दिनकर की रचना में एक उदात्त भंगिमा है जो निराला-काव्य के बाहर ज़रा कम देखने को मिलती है। मेरी दृष्टि में यह उनकी बहुत बड़ी सफलता है।

उर्वशी कहती है :

मैं मनोदेश की वायु
व्यग्र, व्याकुल, चंचल;
अवचेत प्राण की प्रभा,
चेतना के जल में
मैं रूप-रंग-रस-गंध-
पूर्ण साकार कमल।
विस्तीर्ण सिन्धु के
बीच शून्य, एकान्त द्वीप,
यह मेरा उर।
देवालय में देवता नहीं,
केवल मैं हूँ।
मेरी प्रतिमा को घेर
उठ रही अगुरु-गन्ध,
बज रहा अर्चना में मेरी
मेरा नूपुर।

यह मेघमन्द्र स्वर हिन्दी कविता में बहुत दिनों के बाद सुनने को मिला है। इस स्वर में क्या कहा गया है, यह आगे सोचेंगे। ध्यान देने की बात यह है कि स्वर उदात्त है और यह स्वर दिनकर का अपना स्वर है जो पहले से अधिक गम्भीर हो गया है। स्वर का स्थान सही है, वह कुठोर से नहीं निकला। इस मन्द्रघोष के साथ दिनकर ने तरल स्वर भी साधा है :

तारों की झिलमिल छाया में
फूलों की नाव बहाती हूँ,
मैं नैश प्रभा सबके भीतर
निद्रि की कल्पना जगाती हूँ।

यह तरलता प्रसाद के स्वरों से मेल खाती हुई भी उनसे भिन्न दिनकर की

अपनी तरलता है।

उर्वशी पुरुरवा पर मुग्ध हुई। स्वर्ग और धरनी की होड में धरती जीत गई, डूब गई सुरपुर की शोभा मिट्टी के सपनो में। स्वर्ग भी एक सपना है, लेकिन कौन कह सकता है कि मिट्टी के सपने उससे कम मूल्यवान हैं? प्रेम की आत्म-विभोर गहनता निपुणिका के इन शब्दों मे प्रकट हुई है :

सुगंभीर सुख की समाधि
यह भी कितनी निस्तल है?
डूबें प्राण जहाँ तक
रस ही रस है,
जल ही जल है।

पुरुरवा स्वयं अपनी विह्वलता को, शब्द-शक्ति को व्यर्थ मानते हुए भी, बड़े कौशल से शब्दों द्वारा प्रकट करता है :

अर्थ नहीं सूझता मुझे
अपना ही विकल गिरा का।
शब्दों से बनती हैं जो
मूर्तियाँ, तुम्हारे दृग से
उठने वाले क्षीर ज्वार में
गल कर खो जाती हैं।

इस काव्य-ग्रथ में चरम भावोत्कर्ष तृतीय अंक में मिलता है। पुरुरवा और उर्वशी प्रेम के आस्वाद के साथ-साथ अपनी अनुभव-जन्य अनेक समस्याओं पर विचार भी करते हैं। यह चिन्तन-प्रक्रिया उनके काम-सुख-भोग के वर्णन को संस्कृत-ब्रजभाषा कवियों के शृंगार-वर्णन से विलग करती है और उसे रीतिकालीन नायिकाभेदी परम्परा से ऊपर उठाती है। उर्वशी पुरुरवा से तर्क करती हुई उससे प्रश्न करती है :

यह विद्युन्मय स्पर्श तिमिर है
पाकर जिसे
त्वचा की नींद टूट जाती,
रोमों में दीपक बल उठते हैं?
वह आलिगन अंधकार है,
जिसमें बँध जाने पर
हम प्रकाश के महासिन्धु में
उतराने लगते हैं?

पुरुरवा स्वयं अपने प्रश्नों को बहुत स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत करता है। उसकी इच्छा यह है :

रक्त की उत्तप्त लहरों की
परिधि के पार
कोई सत्य हो तो,
चाहता हूँ
भेद उसका जान लूँ।
पन्थ हो सौन्दर्य की
आराधना का व्योम में यदि
शून्य की उस रेख को
पहचान लूँ।

मनुष्य की चिरन्तन ज्ञान-पिपासा उसे आगे ठेलती है, वह कभी शान्त नहीं होती, इसीलिए ज्ञान एक अजस्र धारा है जिससे मनुष्य अपनी तृषा शान्त करता है और साथ ही उसमें अपने सचित ज्ञान के कण भी मिला देता है। पुरुरवा की समस्या यह है :

गीत आता है मही से ?
या कि मेरे ही रुधिर का राग
यह उठता गगन में ?

पुरुरवा का प्रश्न औरों ने भी किया है लेकिन पुरुरवा की तरह उन्हें इस बात का पता न था कि :

महाशून्य का उत्स
हमारे मन का भी उद्गम है,
बहती है चेतना
काल के आदि मूल को छूकर।

चेतना एक प्रवाह है। मनुष्य की व्यक्तिगत चेतना इस प्रवाह की लहर मात्र है; वह सम्पूर्ण प्रवाह नहीं है। इसीलिए पुरुरवा ज्ञान की असीम तृषा लेकर भी उसे शान्त नहीं कर पाता क्योंकि वह किसी एक के जीवन में शान्त हो नहीं सकती।

और सापेक्ष चेतना की सीमाओं में मनुष्य को जो सुख-सन्तोष मिलता है, वह स्वर्ग की कल्पना से कम मधुर नहीं। नर-नारी का सम्बन्ध और नये जीव की उत्पत्ति, इस चिरन्तन सापेक्ष व्यापार (अथवा व्यक्त और अव्यक्त के सम्बन्ध) को दिनकर जी ने मार्मिक ढंग से प्रकट किया है :

नारी ही वह महासेतु,
जिस पर अदृश्य से चलकर
नये मनुज, नव प्राण
दृश्य-जग में आते रहते हैं।
नारी ही वह कोष्ठ देव दानव

मनुष्य से छिप कर
महाशून्य, चुपचाप
जहाँ आकार ग्रहण करता है।

इस काव्य ग्रंथ में कवि अपनी ओर से कुछ नहीं कहता। जो कुछ कहता है, दूसरों के मुँह से। उर्वशी का प्रेम तभी सफल होता है जब वह मानवी के समान पुत्रवती होती है। जब उसका मानवी के समान धरती पर रहना असम्भव हो जाता है, तब उसके प्रेम का भी अन्त हो जाता है। किन्तु सापेक्ष चेतना के क्षेत्र में पुरुरवा और उर्वशी की संयुक्त सृष्टि—उनका पुत्र—कर्ममय जीवन में बँधे रह कर उस अजस्र चेतना-प्रवाह को आगे बढ़ने का बल देता है। यही जीवन की, मनुष्य की, सापेक्ष चेतना और कर्म की, ज्ञान और कर्म के चिरन्तन समन्वय की विजय है। काव्य से उर्वशी की इस कृति—उसके पुत्र—को निकाल दें तो उसका सारा विलास-व्यापार निरुद्देश्य कवि-कल्पना मात्र लगे। प्रारब्ध पुरुरवा को उपदेश देता है, उसे स्वर्ग से पुनः उर्वशी को लाने से बरजता है, वह इसी भविष्य की ओर संकेत करता है। प्रारब्ध का यह स्वर न तो नियति के सहारे निष्क्रिय जीवन बिताने का संकेत करता है, न वह कर्म-विमुख होकर आध्यात्मिक साधना का निर्देश करता है। वह आस्था का स्वर है, और उसकी सामयिक सार्थकता में किसी भी जागरूक पाठक को सन्देह नहीं हो सकता।

चिन्तन कर यह जान कि तेरे
क्षण-क्षण की चिन्ता से,
दूर-दूर तक के भविष्य का
मनुज जन्म लेता है।
उठा चरण यह सोच कि
तेरे पद के निक्षेपों की
आगामी युग के कानों में
ध्वनियाँ पहुँच रही हैं।

यही वह अजस्र जीवन-प्रवाह है जिससे मनुष्य बँधा हुआ है। यहीं परोक्ष और प्रत्यक्ष के छोर आकर मिलते हैं। इस मानव जीवन की सापेक्ष प्रवहमानता के परे ज्ञान का कोई अमानवीय निरपेक्ष स्रोत नहीं है। 'उर्वशी' काव्य का यही मर्म-संकेत है।

जीवन की स्वीकृति और मानव-जीवन में आस्था के कारण, आनन्द की आकांक्षा के साथ अतृप्ति के उद्वेग को व्यक्त करने के कारण—निरपेक्ष ज्ञान की तृषा के साथ सापेक्ष ज्ञान की उदात्त अभिव्यंजना के कारण—'उर्वशी' आधुनिक हिन्दी काव्य का कीर्ति-स्तम्भ है। इसमें भी सन्देह नहीं कि दिनकर ने इस काव्य के माध्यम से पाठक को हिन्दी भाषा की नवीन अभिव्यंजना-क्षमता से परिचित

कराया है। सबसे बड़ी बात यह है कि उन्होंने अपनी साधना में कुछ उठा नहीं रखा और वह जो सुन्दरतम कृति हिन्दी को दे सकते थे, वह उन्होंने दी है। वह अपने प्रयत्न की गरिमा-मात्र के विचार से प्रशंसनीय हैं।

यह देश दार्शनिक चिन्तन के लिए विख्यात रहा है। हिन्दी के प्रमुख कवि अपनी रचनाओ में विभिन्न रसों की सृष्टि के साथ दार्शनिक समस्याओं का भी न्यूनाधिक सरस विवेचन करते रहे हैं। इसलिए दिनकर जी ने उर्वशी में दार्शनिक समस्याओं की चर्चा की तो यह स्वाभाविक ही था। पुरुरवा और उर्वशी की कथा से उन्हें इसीलिए दिलचस्पी नही है कि कथा रोचक है; उनके लिए पुरुरवा और उर्वशी कहीं मानवीय भावनाओं के प्रतीक भी हैं।

भूमिका में उन्होंने लिखा है कि पुरुरवा सनातन नर का प्रतीक है और उर्वशी सनातन नारी का। इस प्रतीकवाद मे कुछ उलझनें हैं। उर्वशी किस तरह की नारी है? भूमिका में उसके बारे में आगे लिखा है कि वह देवलोक से उतरी हुई नारी है। भूमिका से भिन्न काव्य में वह सनातन नारी मात्र का प्रतीक न होकर कल्पनालोक की वाराङ्गना के रूप में अधिक दिखाई देती है। उसी के वर्ग की अप्सरा रंभा कहती है—

प्रेम हमारा स्वाद,<br>
मानवी की आकुल पीड़ा है।

पुरुरवा की पत्नी औशीनरी उर्वशी को गणिका कहती है, 'जाने इस गणिका का मैंने कब क्या अहित किया था।'

चित्रलेखा कहती है, 'हम कुछ नही, रंजिकाएँ हैं मात्र अमुक्त मदन की।'

स्वयं उर्वशी कहती है, 'नारी की मैं कल्पना चरम नर के मन में बसनेवाली।'

वह नारी से अधिक नारी की कल्पना है, इसीलिए वह भूत, भविष्यत् और वर्तमान की बाधाओं से अपने को मुक्त मानती है। इसी कारण वह बच्चे को जन्म देने के बाद उसे पालती नहीं है, वरन् दूसरे पर छोड़कर पुनः पति अथवा प्रेमी के साथ विहार करती है और जैसे ही पुत्र और पिता का मिलन हुआ, वैसे ही शाप के प्रभाव से वह दोनों को छोड़कर स्वर्ग चली जाती है।

इस तरह उर्वशी सनातन नारी का प्रतीक न होकर अनन्त यौवन और सौंदर्य की कल्पना का प्रतीक है। इसी कारण काव्य ग्रंथ में कल्पना और यथार्थ का संघर्ष स्पष्ट दिखाई देता है। चित्रलेखा द्वारा कवि ने गृहस्थ धर्म का महात्म्य घोषित किया है, फिर भी इस पुस्तक में गृहस्थ वधू वाराङ्गना से पराजित होती है। सुकन्या का विचार है कि जब तक हरा-भरा उपवन है, तब तक किसी एक से जीवन का तार बाँध लेना चाहिए। यौवन पुरुष को बाँध रखने का साधन मात्र जान पड़ता है। वह साधन भी सदा काम नहीं देता। पतिव्रता औशीनरी को क्षोभ है कि वह गणिका उर्वशी के समान अपनी काम-लीला द्वारा राजा को रिझाकर

अपने साथ न रख सकी :

रही समेटे अलंकार क्यों
लज्जामयी वधू-सी ?
बिखर पड़ी क्यों नहीं कुट्टमित,
चकित, ललित, लीला मे ?

दुर्भाग्य से यह चकित ललित लीला हर शहर की सड़क पर दिन दूनी, रात चौगुनी बढ़ती जाती है किन्तु इससे गृहस्थ जीवन स्वस्थ और सुदृढ़ होने के बदले और भी खोखला होता जाता है।

पुरुरवा का श्रम से कोई सम्बन्ध नहीं है। राजा ही है। उर्वशी को विलास-व्यापार के अलावा और कोई काम नही। खाना कैसे पचता होगा या राम जाने हवा खाकर ही जीती थी। श्रम के महत्व को अस्वीकार करके कोई भी काव्य महाकाव्य नहीं हो सकता।

इस पुस्तक में इस बात पर सही जोर दिया गया है कि प्रकृति से सम्बन्ध तोड़कर ईश्वर प्राप्ति नहीं होती। उर्वशी ठीक कहती है कि मनुष्य स्वयं प्रकृति है; इसलिए अपने से भागकर वह कहाँ जाएगा ? लेकिन वह जीवन को निरुद्देश्य मानती है। उसका कहना है कि परिवर्तन की प्रक्रिया प्रकृति की सहज प्राणधारा है; मुक्त वही हैं जो सहज भाव से बहते हैं—किसी ध्येय के लिए नहीं, केवल बहते रहने को।

उसे ज्ञान प्राप्ति में विश्वास नहीं है क्योकि हार मानकर प्रज्ञा अपना सिर थामकर बैठ जाती है।

इसलिए काम-धर्म पालन के सिवा उसे कोई अन्य धर्म नहीं दिखाई देता। कठिनाई यह है कि उर्वशी तो अनन्त यौवन है। किन्तु पुरुरवा के साथ बुढ़ापे का कर्ज भी लगा है। उस सहज काम-धर्म का पालन मनुष्य कब तक करे ? उर्वशी बहुत कुछ ठीक कहती है, 'तन का काम अमृत, लेकिन यह मन का काम गरल है।'

इस पुस्तक में अमृत के साथ थोड़ा-बहुत गरल भी है। भूमिका में कवि का कथन है, 'किन्तु, उस प्रेरणा पर तो मैंने कुछ कहा ही नहीं जिसने आठ वर्ष तक ग्रसित रखकर यह काव्य मुझसे लिखवा लिया।' भगवान हर पाठक को इस प्रकार ग्रसित होने से बचाए।

पुरुरवा की दार्शनिक युक्ति यह है कि मनुष्य देह से प्रेम करके अदेह सौंदर्य तक पहुँच जाता है। प्लेटो और उसके अनुयायियों ने इस प्रेमदर्शन का काफी प्रचार किया था और उसकी प्रतिध्वनियाँ इस काव्य में भी हैं :

और चूमते हम अचेत हो
जब असंज्ञ अधरों को,
वह चुम्बन अदृश्य के चरणों

पर भी चढ़ जाता है।

अदृश्य पर इस तरह असंख्य चुम्बन चढ़ाने पर भी पुरुरवा को यह संतोष नहीं होता कि उसे ज्ञान प्राप्त हुआ है।

फिर वही उद्विग्न चिन्तन,
फिर वही पृच्छा चिरन्तन—
काफी समय बाद वही आर्त पुकार—·
हाय, तृषा फिर वही
तरंगों में गाहन करने की !
वही लोभ चेतना-सिंधु के
आर पार जाने का।

*बहुत प्रयत्न करने पर वह ईश्वर या प्रकृति के प्रति आत्मार्पण या शरणगति* की बात ही कह सकता है।

आज के *युग में* प्लैटो की देह से अदेह तक पहुँचने की *प्रक्रिया काम नहीं* देती। पहले भी काम न देती थी, आज वह एकदम विफल हो गई है। मनुष्य न तो यह कहकर शान्त बैठ जाता है कि सत्य अज्ञेय है, न यह प्रकृति या ईश्वर को आत्मार्पण करके सन्तुष्ट होता है। वह अपने श्रम से, व्यवहार द्वारा प्रकृति के ज्ञान से, अपने कर्म से प्रकृति को अपने अनुकूल बनाकर, अपने अनुभवों की समीक्षा से सही निष्कर्ष निकालता हुआ, स्वयं अपने को विकसित करता हुआ आगे बढ़ रहा है। ज्ञान की यही एक पद्धति है जिससे मनुष्य को सन्तोष हो सकता है।

उर्वशी और पुरुरवा की उक्तियों में या तो अतृप्ति और निराशा है या भुलावा और प्रवंचना। उनके काम-दर्शन पर औशीनरी की टिप्पणी लाजवाब है :

हाँ, अनोखी साधना है,
अप्सरा के संग रमना
ईश की आराधना है !

सामन्त को उत्तराधिकारी के लिए वधू चाहिए। विलास के लिए वर-वधू चाहिए। उसके असंयत भोग की रक्षा के लिए योगियों का तप चाहिए। पुरुरवा पहले *भोगी फिर संन्यासी; साधारण मनुष्य का यह मार्ग नहीं है।* च्यवन के जीवन में दोनों का समन्वय है किन्तु यह काव्य पुरुरवा की गाथा है, च्यवन की नहीं।

कभी-कभी रहस्य की खोज करते हुए आधुनिक कवि मानव-बुद्धि का ही विरोध करने लग जाते हैं। अंग्रजी में डी० एच० लारेंस ने बुद्धिवाद का विरोध करके रक्त की आवाज सुनने पर जोर दिया था। उर्वशी लारेंस के स्वरों में कहती है—

'पढ़ो रक्त की भाषा को, विश्वास करो इस लिपि का; यह भाषा, यह लिपि मानस को कभी न भरमाएगी, छली बुद्धि की भाँति।'

बुद्धि जहाँ अनियंत्रित सुख-भोग में बाधक होती है, वहाँ उसकी आलोचना की गई है। किन्तु यही बुद्धि नारी को कितने सुन्दर ढग से आत्मसमर्पण का पाठ पढ़ाती है। सुकन्या कहती है कि नारी की सहज-भूमि धूप नहीं छाया है। नारी क्रिया नही वरन् क्षमा और करुणा है और—

हम तो जाती हैं कृतार्थ
अपने अधिकार गँवाकर।

नारी काफ़ी कृतार्थ हो चुकी; अब वह अपने अधिकारों के लिए लड़ती है और क्षमा-करुणा का सेहरा पुरुष के सिर बाँधना भी जरूरी समझती है।

इस प्रकार काव्य मे जिन दार्शनिक और सामाजिक समस्याओं की चर्चा है उनमें काफ़ी उलझाव है। कवि ने उन्हें सुलझाने का दावा भी नहीं किया, लेकिन उन्हें सुलझाना तो होगा ही।

यद्यपि श्रृंगार वर्णन प्राचीन परिपाटी से काफ़ी भिन्न है, फिर भी पुरानी कल्पनाओं और पुराने ढंग की अलंकार योजना कई जगह खटकती है। रति की मूर्ति, रमा की प्रतिमा कहने से कोई स्पष्ट चित्र सामने नहीं आता। पुरुरवा के अत्युक्तिपूर्ण कथन, 'सामने टिकते नही वनराज पर्वत डोलते हैं' इत्यादि दरबारी कवियों की रचनाओं में ही शोभा देते हैं।

दिनकरजी की छन्द-योजना समर्थ है; भिन्न गतिलय द्वारा वह विभिन्न भाव-भंगिमाएँ व्यक्त करने में दक्ष हैं। किन्तु उनकी शब्द-योजना में बहुत जगह शिथिलता दिखाई देती है। 'भीतर से हरी-हरी' और 'जल से भरी-भरी' भद्दा प्रयोग लगता है। इसी तरह 'निद्रा भरी-भरी' कोई मुहावरा नहीं है। चुबन धरने वाला, कोर मात्र ही केवल (मात्र केवल, ही, एक ही अर्थ के वाचक हैं) भूतरोत्तर (भूत+उत्तर या भूतर+उत्तर ?) आदि चिन्त्य प्रयोग हैं। कहीं-कहीं काव्य की पंक्तियाँ नीरस गद्य जैसी हो जाती हैं, जैसे उर्वशी का बार-बार पानी माँगना —'अपाले मुझे घूँट भर जल दे।' और 'अपाले ! तनिक और पानी दे।' ऐसी ही पुरुरवा की गद्यमय उक्ति है, 'ठीक-ठीक यह नहीं बता सकता हूँ।'

इस तरह के दोषों से शायद ही पिछले दस वर्षों का कोई काव्य मुक्त हो। इसीलिए उनकी ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। किन्तु भाषा अथवा दार्शनिक चिन्तन के सदोष होने पर भी यह मानना होगा कि उर्वशी एक महान् कलाकृति है और उसके अनेक स्थल ऐसे हैं जिनमें पाठक का मन रमेगा और वह उन्हें विह्वल होकर बार-बार पढ़ेगा। 'निश्चित रूप से दिनकर जी की यह कृति आधुनिक काव्य की श्रेष्ठ उपलब्धि के रूप में स्मरणीय रहेगी।'

# १३ | हिन्दी शब्दानुशासन : भाषा-शास्त्र की परम्परा

*अंग्रेजों की दासता से मुक्ति पाने के बाद भारतीय जनता के सामने नयी* भाषा-सम्बन्धी समस्याओं का प्रस्तुत होना स्वाभाविक है। जनता की राजनीतिक और सांस्कृतिक कार्यवाही पहले की अपेक्षा कहीं बड़े पैमाने पर उसकी अपनी भाषाओं में होगी। इसलिए भाषा का परिनिष्ठित रूप होना, उसके शब्द-प्रयोगों और वाक्य रचना आदि के बारे में सर्वस्वीकृत मान्यताओं का स्थिर होना आवश्यक है। इस कार्य की ओर हिंदी के विद्वान् पहले से भी सचेत हैं, जिनमें पं० किशोरीदास वाजपेयी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हिन्दी शब्दानुशासन के मार्ग में दो बाधाएँ हैं। पहली संस्कृत के अनुरूप हिन्दी व्याकरण रचने की प्रवृत्ति; दूसरी इस क्षेत्र में यूरोप के विद्वानों—विशेषकर अंग्रेज भाषा-वैज्ञानिकों—के अन्धानुकरण की प्रवृत्ति। प्रसन्नता की बात है कि वाजपेयी जी ने दोनों बाधाओं की चिन्ता न करके इस विषय पर अपनी पुस्तक लिखी है।[1]

'हिन्दी शब्दानुशान' में शब्दों के प्रयोग, वाक्य-रचना आदि के बारे में जो कुछ कहा गया है, वह तो महत्वपूर्ण है ही, सभी भाषाशास्त्रियों के ध्यान देने की बात इसमें वाजपेयी जी का भाषा-सम्बन्धी दृष्टिकोण है।

भाषा स्थिर है या परिवर्तनशील? वाजपेयी जी भाषा को दीर्घजीवी मानते हैं, साथ ही वह परिवर्तनशील भी है। उसमें यह परिवर्तन बहुत धीरे-धीरे होता है। *"काल की तरह देश भेद से भी भाषा बदलती है, बहुत धीरे-धीरे।"* (पृ० ४) तथा—"लाखों करोड़ों वर्ष अच्छी भाषा जीवित रहती है।" (उप०) भाषा के इस दीर्घ जीवन को ध्यान में रखकर ही यह बात समझ में आ सकती है कि *आधुनिक भाषाओं के अनेक तत्व बहुत ही पुराने हैं।* भले ही किसी भाषा का जीवन अक्षरशः करोड़ों वर्ष का सिद्ध न हो सके भाषा की आयु मानवसमाज की

---

१. हिन्दी शब्दानुशासन—ले० पं० किशोरीदास वाजपेयी शास्त्री; प्रकाशक—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी; मूल्य १०)

आयु पर ही निर्भर है।

भाषा के कौन से तत्व जल्दी बदलते हैं, कौन से देर में बदलते हैं या नहीं बदलते, इस विषय में वाजपेयी जी ने लिखा है, "किसी भी भाषा के मूल शब्द उसका 'मूल धन' हैं, या होते हैं—१—क्रियापद, २—अव्यय, ३—विः क्तयाँ तथा ४—सर्वनाम। ये चार मुख्य स्तंभ हैं, जिन पर किसी भी भाषा का स्वतन्त्र अस्तित्व टिका रहता है। ये शब्द कभी बदलते नहीं, कभी भी किसी दूसरी भाषा से कोई भाषा नहीं लेती।" (पृ० ४०) यदि इस नियम के अनुसार हिन्दी-उर्दू समस्या पर विचार किया जाय तो बहुत जल्दी समझ में आ जाये कि ये दोनों भिन्न भाषाएँ हैं या एक हैं। इसी प्रकान अवधी, ब्रज, बुंदेलखण्डी स्वतन्त्र भाषाएं हैं या हिन्दी की बोलियाँ हैं—इस प्रश्न का उत्तर देने में भी सहायता मिले। वास्तव में भाषा-विज्ञान के अनेक पंडित भाषा के 'मूल धन' की समस्या से परिचित ही नहीं है। इसी कारण तमिल आदि दक्षिण की भाषाओं के मूलधन पर ध्यान न देकर इन्हें भी संस्कृत की पुत्रियाँ कह दिया जाता है। क्रियापद, सर्वनाम आदि तत्वों का भी आदान-प्रदान होता है यथा 'आजमाना' क्रिया, किन्तु इस तरह के उदाहरणों से यह सिद्ध नहीं होता कि भाषा की स्वतन्त्रता उपर्युक्त तत्वों पर अवलंबित नहीं है।

वाजपेयी जी भाषा को विकासमान समझते हैं; जनता के प्रयोग भाषा की मुख्य नियामक शक्ति हैं। उनका कहना है कि "जन-प्रवाह ने जिस शब्द को जैसा बना दिया है, वह वैसा बन गया।" (पृ० ४३) यदि जन-प्रवाह के प्रति हिन्दी विद्वानों की यह धारणा होती तो उनकी शैली तत्सम-प्रधान न होकर सरल, तद्भव-प्रधान, भारतेन्दु और प्रेमचन्द की शैली के अधिक निकट होती। वाजपेयी जी को तद्भव शब्दों से प्रेम है। जनप्रवाह को महत्व देने के कारण वे हिन्दी की प्रकृति को हिन्दी के अन्य वैयाकरणों और भाषा-विज्ञानियों की अपेक्षा ज्यादा पहचानते हैं। उन्होंने उचित ओज से घोषित किया है, "तद्भव शब्दों का तो अटूट भंडार है और इनकी जगह संस्कृत के तद्रूप शब्द चल ही नहीं सकते, जैसे दस, बीस।" (पृ० ४४) वे व्याकरण का महत्व जानते हैं और उसकी सीमाएँ भी पहचानते हैं। "व्याकरण का दर्पभंग, पद-प्रयोग के मार्ग में, जनता कर देती है।" (पृ० ६२) "जब पाणिनि का प्रयोग भाषा में गति-विरुद्ध होने के कारण नही चला, तो हम पामर जनों की चर्चा ही क्या!" (पृ० ८०) "बीस-बीस करोड़ जनता के प्रवाह को नियम बना कर कैसे कोई मोड़े?" (पृ० १८५)। हिन्दी ही नहीं, अनेक अहिन्दी भाषा-विज्ञानी कभी-कभी हिन्दी व्याकरण को अपनी रुचि के अनुसार गढ़ने की इच्छा प्रकट करते हैं। विशेष रूप से वे चाहते हैं कि हिन्दी से लिंगभेद मिटा दिया जाय। लेकिन जन-प्रवाह को नियम बना कर कौन मोड़े?" "हिन्दी ही नहीं, सभी भाषाओं की अपनी प्रकृति होती है। उसे कोई

व्याकरण क्या, महाव्याकरण भी बदल नहीं सकता।" (पृ० ५७) वाजपेयी जी ने बार-बार हिन्दी की प्रकृति पर जोर दिया है, उसे स्वतन्त्र भाषा मानकर उसकी विशेषताओं का अध्ययन किया है। सही वैज्ञानिक पद्धति भी यही है। इसके विप-रीत उन विद्वानों का व्यवहार है जो न संस्कृत की प्रकृति को पहचानते हैं, न हिन्दी की। अपने मन से गढ़े हुए—अथवा संस्कृत से उधार लिए हुए—चौखटे में हिन्दी के हाथ पैर बाँध देते हैं।

ऊपर के उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि व्याकरण जैसे विषय पर भी पुस्तक लिखने में विवेचक का सामाजिक दृष्टिकोण महत्वपूर्ण सिद्ध होता है। यदि वह जनता को मूर्ख, शुद्ध भाषा को बिगाड़ने वाली, विद्वानों को ही भाषा का मूल स्रोत और स्वरचित व्याकरण को भाषा का नियामक माने तो वह कभी वैज्ञा-निक पद्धति से इस विषय पर पुस्तक नहीं लिख सकता। वाजपेयी जी को हिन्दी के शब्दों से प्रेम है; वे उनके लिए कोश में दर्ज मृत इकाई न होकर जीते-जागते प्राणी हैं जिनका व्यवहार देखकर कभी वे विस्मय में पड़ जाते हैं, कभी स्वयं उनके साथ खेलने लगते हैं, परन्तु सदा ही उनकी गतिविधि का अध्ययन करते रहते हैं। शब्द ही नहीं, वर्णों की प्रकृति का उल्लेख वे यों करते हैं, मानो वे प्राणियों के समान विशेषताओं वाले हों। ह के साथ ह नहीं मिलता; स के साथ स मिल जाता है। क्यों? "स की अपेक्षा ह जोरदार है—असली बब्बर।" (पृ० ६९) अनुना-सिक वर्णों की चर्चा करते हुए उन्हें याद आ जाता है—"कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि।" और वे एक उपमा ढूँढ़ लाते हैं, "जैसा 'न' वैसा ही अनुस्वार मधुर। दूध और मिसरी का मेल।" (पृ० ६७) इस शब्द प्रेम के साथ उनकी विचार-पद्धति दर्शनीय है। वे भाषा-तत्वों को स्थिर न मानकर गतिशील और परिवर्तन-शील मानते हैं। "भाषा के प्रभाव में बहते-बहते कई संश्लिष्ट शब्द विश्लिष्ट होकर चलने लगते हैं।" (पृ० १४६) इसलिए शब्दों के रूप को स्थिर न मानकर परि-वर्तनशील समझते हुए ही विवेचन करना उचित होता है।

दृष्टिकोण और विचार-पद्धति के बाद इस पुस्तक की विशेषता है, संस्कृत प्राकृत और हिन्दी के परस्पर सम्बन्ध का विवेचन। संस्कृत और हिन्दी का सम्बन्ध ठीक से न समझने के कारण न जाने कितना अनर्थ हुआ है और हो रहा है। उसे राष्ट्रभाषा बनाने के फेर में बहुत से लेखक उसकी प्रकृति की अवहेलना करके उसे संस्कृत की ओर घसीटने का प्रयास करते रहे हैं। वाजपेयी जी ने अपनी पुस्तक के आरम्भ में ही लिखा है, "हिन्दी की उत्पत्ति उस संस्कृत भाषा से नहीं है, जो कि वेदों में, उपनिषदों में तथा वाल्मीकि या कालिदास आदि के काव्य-ग्रंथों में हमें उपलब्ध है।" (पृ० १) इस वाक्य को मोटे-मोटे अक्षरों में लिखकर हर कोश-निर्माण कार्यालय, नागरी प्रचारिणी सभा और साहित्य सम्मेलन की हर शाखा के दफ्तर और प्रत्येक विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में टाँग देना चाहिए जिससे

कि आये दिन हिन्दी को संस्कृत की पुत्री न घोषित किया जाय। पुत्री घोषित करने का कारण भाषा के शब्द भंडार से भिन्न, उसके व्याकरण के महत्व को न पहचानना है। वाजपेयी जी ने उचित ही प्रश्न किया है, "करोति से 'करता है' एकदम कैसे निकल पड़ेगा? राम . करोति की तरह सीता करोति भी संस्कृत में चलता है; परन्तु हिन्दी मे 'लड़का चलता है, करता है, खाता है' और 'लड़की चलती है, करती है, खाती है' होता है। कितना अन्तर! यह ठीक है कि 'चल, खा, कर' शब्द-रूप संस्कृत के चल्, कृ, खाद् से मिलते-जुलते हैं। परन्तु इस मेल-जोल का यह मतलब नहीं कि 'चलति' से 'चलता' निकल पड़ा! दोनों की चाल एकदम अलग-अलग है।" यह तर्क-पद्धति बिलकुल सही है। जब तक यह सिद्ध नहीं होता कि हिन्दी व्याकरण की विशेषताओं का मूल स्रोत संस्कृत-व्याकरण है, तब तक शब्द-साम्य के आधार पर हिन्दी को संस्कृत की पुत्री नहीं कहा जा सकता।

वाजपेयी जी संस्कृत और हिन्दी को किसी एक मूल भाषा की शाखाएँ मानते हैं। 'दोनों' का पृथक् और स्वतन्त्र पद्धति पर विकास हुआ है; परन्तु हैं दोनों एक ही मूल भाषा की शाखाएँ। बहुत बड़ी-बड़ी शाखाएँ हैं ये; इतनी बड़ी कि तना कहीं दिखाई भी नहीं देता और इतना विस्तार कि कोई सहसा समझ नहीं पाता कि कहाँ से ये चली हैं!" (पृ० १) इससे सिद्ध हुआ कि वाजपेयी जी के अनुसार हिन्दी के अनेक मूल तत्व अत्यन्त प्राचीन हैं और संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश की सीढ़ी के सहारे हम हिन्दी की प्रकृति तक नहीं पहुँच सकते। वाजपेयी ने एक मिसाल दी है: 'इस पुस्तक की चार प्रतियाँ हमें देना।' उपसर्ग प्रति का प्रयोग संज्ञा की तरह हुआ है। यह प्रवृत्ति हिन्दी में कहाँ से आई? "हिन्दी में यों उपसर्गों का स्वतंत्र प्रयोग करने की प्रवृत्ति 'मूल भाषा' से ही आई है।" (पृ० २५)

संस्कृत के आकारान्त स्त्री वाचक शब्दों को हिन्दी उनकी 'लंबमानता' हटा कर अपनाती है: द्राक्षा को दाख, खट्वा को खाट बनाकर। "तो, यह संस्कृत (तथा उपलब्ध प्राकृतों) से एकदम उलटी पद्धति है न? यह पद्धति प्राकृत के किस रूप से आई? 'खड़ी बोली' के क्षेत्र में जो जनभाषा व्यवहृत होती होगी, उसी की यह पद्धति हो सकती है।" (पृ० १६) इस तरह के उदाहरण देकर वाजपेयी जी ने संस्कृत से भिन्न हिन्दी की विशेषताओं का प्रतिपादन किया है। यहाँ उनका संकेत इस तथ्य की ओर भी जान पड़ता है कि संस्कृत के समानान्तर यहाँ विभिन्न जनपदों में अन्य भाषाएँ बोली जाती थीं। उन्हीं प्राचीन भाषाओं से हिन्दी आदि नवीन भाषाओं का उद्‌भव और विकास हुआ है।

हिन्दी में 'तुम्हीं ने', 'हमीं ने' आदि प्रयोग उचित हैं। हम और ने के बीच में 'ही' आ गया। "यह हिन्दी की प्रकृति है। संस्कृत में ऐसा नहीं होता।" (पृ० २५) संस्कृत में राष्ट्रिय भले शुद्ध हो, हिन्दी में राष्ट्रीय ही चलेगा क्योंकि "हिन्दी

एक स्वतन्त्र भाषा है" और "वह अपने क्षेत्र में सार्वभौम सत्ता रखती है।" (पृ० ५६) इसी तरह विस्तार से की जगह विस्तर से न चलेगा। संस्कृत में दीनबन्धु किन्तु हिन्दी में दीनबन्धु के साथ दीनानाथ भी ठीक है। ऐसे ही मूसलाधार और सत्यानाश शब्द ठीक हैं क्योंकि "हिन्दी सर्वत्र संस्कृति-नियमों से बँधी नहीं है।" (पृ० ५८) संस्कृत और हिन्दी की प्रकृति में अन्य भेद इस प्रकार हैं। हिन्दी की प्रवृत्तिअनुनासिक-प्रधान है, संस्कृत की अनुस्वार-प्रधान। (पृ० ९०) संस्कृत में विसर्गों के बिना काम नहीं चलता। ठेठ हिन्दी शब्दों में विसर्ग कहीं न मिलेंगे।" (पृ० ९३) क्या हम इसे भाषा का ह्रास कहें ? नहीं, "उस झंझट से अलग होने का ही परिणाम तो भाषा-विकास है।" (उप०) अनेक पुनरुत्थानवादियों के विपरीत वाजपेयीजी को इस बात पर जरा भी अफसोस नहीं है कि संस्कृत अब भारत की राष्ट्र भाषा नहीं है। न वे इस कार्य में दत्तचित्त हैं कि उसे फिर राष्ट्रभाषा बनाया जाय। लेखक के निवेदन में उनका दावा है, "निःसन्देह हिन्दी की पद्धति संस्कृत से भी अधिक कलात्मक तथा वैज्ञानिक है, यह आप स्वयं इस पुस्तक का अध्ययन करके कहेंगे।"

प्राकृतों को वाजपेयी जी ने कृत्रिम बतलाया है। साहित्यिक प्राकृतें मूलतः संस्कृत के शब्द भंडार को और अधिकतर उसी के व्याकरण-नियमों को लेकर चलती हैं। इसलिये उन्हें कृत्रिम कहना उचित है। जैसे हिन्दी की उत्पत्ति संस्कृत से सिद्ध नहीं की जा सकती, वैसे ही वह प्राकृतों से भी सिद्ध नहीं की जा सकती। "प्राकृत के (दूसरी तथा तीसरी अवस्था के) जो भी रूप साहित्य में उपलब्ध हैं', उनसे हिन्दी की जूरी बैठती नहीं है। इन सभी का प्राकृतों में वर्तमान काल की क्रियाएँ तिङन्त हैं, जिनमें कर्ता के अनुसार पुल्लिग-स्त्रीलिंग में कोई रूप परिवर्तन नहीं होता। 'पिआ पुच्छइ' और 'माआ पुच्छइ'। उभयत्र 'पुच्छइ' है। यह संस्कृत के 'पिता पृच्छति' 'माता पृच्छति' की छाया है। हिन्दी में रूप बदलता है—'पिता पूछता है'—'माता पूछती है'। हिन्दी की यह विशेषता किसी भी प्राकृत में दिखाई नहीं देती।" (पृ० १४) इस सूक्ष्म विवेचन का कारण यह है कि वाजपेयीजी ने शब्दों के परिवर्तित रूप दिखाकर संतोष नहीं कर लिया; उन्होंने व्याकरण के नियमों को ध्यान में रखते हुए संस्कृत-प्राकृत-हिन्दी समस्या का विवेचन किया है।

शब्दानुशासन के प्रसंग में वाजपेयीजी ने हिन्दी की अनेक विशेषताओं का उल्लेख किया है। हिन्दी अपने तथा संस्कृत के रूपान्तरित करके अपनाए हुए शब्दों में पुंविभक्ति लगाती है यथा, मीठा पानी, कड़वा पत्ता, कसैला फल। इसी तरह दंड तत्सम रूप में दंड ही रहता है किन्तु तद्भव रूप में डंडा हो जाता है। (पृ७ १७) संस्कृत की धातुएँ हिन्दी में स्वरान्त हो गई हैं। (पृ० ३८) ऋ का प्रयोग संस्कृत में खूब है "परन्तु हिन्दी आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं का गठन ऐसा है कि यहाँ 'ऋ' का एकान्त अभाव है।" (पृ० ८३) हिन्दी में विभक्ति हटा

कर लिखी जाती है और लिखी जानी चाहिए। हिन्दी के सन्धिनियम, समास-नियम अपने हैं।

वाजपेयी जी ने हिन्दी की बोलियों का संक्षिप्त विवेचन किया है। उन्होंने पंजाबी को स्वतंत्र भाषा किन्तु राजस्थानी, कमायूनी और गढ़वाली को हिन्दी की बोलियाँ ही कहा है। मैथिली, ब्रज, अवधी आदि को उन्होंने उचित ही हिन्दी की बोलियाँ घोषित किया है। उनका यह सुझाव ध्यान देने योग्य है कि हिन्दी को अपनी बोलियों से शब्द लेने चाहिए। वाजपेयी जी एक ओर सिर के बदले मूंड़ चलाने के पक्ष में नहीं हैं, दूसरी ओर जनपदों के शब्दों को प्रत्येक दशा में हिन्दी की परिधि से बाहर भी रखना नहीं चाहते। इसी प्रकार वे उर्दू के प्रचलित शब्दों को अपनाने और भाषा में उनका व्यवहार करने के पक्ष में हैं। "मेरी भाषा में 'असली', 'चीज', 'जरूर' आदि विदेशी शब्द आते हैं। रम गए हैं। मैं इन्हें जबर्दस्ती निकालता नहीं।" (पृ० ४६) यह नीति प्रशंसनीय है क्योंकि बहुत से लेखक वास्तविक, वस्तु और आवश्यक के अभाव में भाषा को हिन्दी समझते ही नहीं।

पुस्तक में वाजपेयी ने शब्दों के प्रयोग के बारे में जो मत प्रकट किया है, वह सभी को मान्य भले न हो, विचारणीय सबके लिये अवश्य है। उनके सुझावों से हिन्दी का परिनिष्ठित रूप स्थिर होगा, इसमें सन्देह नहीं। लिंग-विवेचन के प्रकरण में उन्होंने जितनी बातें कही हैं, उनसे अहिन्दी-प्रेमियों को कम से कम इतना जरूर मालूम हो जायगा कि इस जटिलता के ऐतिहासिक कारण हैं। अनेक मौलिक उद्‌भावनाओं में कुछ बहुत ही महत्वपूर्ण ये हैं। वाजपेयी जी ने 'कितना' का मूल-रूप 'केतरा' माना है, 'इतना' का 'एतना', 'उतना' का 'ओतना'। (पृ० ८८-८९) इससे तथा ऐसे अन्य उदाहरणों से पता चलता है कि वर्तमान हिन्दी के विकास में पूर्वी बोलियों की भूमिका नगण्य नहीं है और इस विषय पर और अनुसन्धान होना चाहिये।

महाप्राण व्यंजनों के प्रसंग में वाजपेयी जी ने लिखा है, "भाषा के विकास में 'ह्' वर्ण का जो स्थान है, अन्य किसी वर्ण का नहीं।" (पृ० ९८) कश्मीर से असम तक और पश्चिम में गुजरात और महाराष्ट्र तक श, ष के स्थान में विशेष रूप से तथा ध, थ आदि व्यंजनों के स्थान में साधारणतः यह ह अपना रंग जमाता हुआ दिखाई देता है। इस पर ध्यान दिये बिना कम से कम उत्तर भारत की भाषाओं का विकास समझ में नहीं आ सकता।

जो लोग 'को', 'ने' आदि को विभक्ति के बदले परसर्ग कहते हैं, उनके तर्क का उत्तर देते हुए वाजपेयी जी ने लिखा है, "संस्कृत की विभक्तियाँ भी तो किन्हीं शब्दों के घिसे हुए रूप कही जा सकती हैं न?" (पृष्ठ १७१) संस्कृत की विभक्तियाँ पहले स्वतंत्र शब्द थीं, यह स्थापना काफ़ी हद तक तुलनात्मक भाषाविज्ञान से सिद्ध होती है।

सकर्मक क्रियाओं के भूतकाल में कर्ता ने विभक्ति के साथ रहता है; राम ने काम किया; राम ने पुस्तक ली। लेकिन राम पुस्तक लाया, लड़की फल लाई—इन वाक्यों में ने का अभाव है। वाजपेयी जी ने बड़ी सूझबूझ से इस रहस्य का उद्घाटन किया है कि 'ला' धातु संयुक्त है; अन्त में 'आ' है। इसीलिये भूतकाल में 'आया' की तरह 'लाया' के साथ भी कर्ता को 'ने' स्वीकार नहीं है। (पृष्ठ १४७) इस तरह के उदाहरणों से पाठक कल्पना कर सकते हैं कि वाजपेयी जी ने कितने वर्षों तक, कितनी लगन से और कितने निःस्वार्थ भाव से इन समस्याओं पर विचार किया होगा। उनकी यह साधना अनुकरणीय है।

पूर्वी बोलियों से भिन्न हिन्दी में 'ने' के प्रयोग के बारे में उन्होंने लिखा है, "यह 'ने' हिन्दी में प्राकृत के किस रूप से आई है, पता नहीं चलता ! परन्तु आई तो प्राकृत की ही किसी धारा से है, इसमें सन्देह नहीं। साधारण अपढ़ जनता संस्कृत से कैसे प्रभावित हो सकती है ! प्राकृत का वह ('ने' वाला) रूप निश्चय ही 'खड़ी बोली' के क्षेत्र में, कुरु जन पद में (उत्तर प्रदेश के मेरठ डिवीजन में) जनगृहीत रहा होगा। अन्यथा वहाँ 'ने' कैसे कूद पड़ती ? और कहीं क्यों न कूद पड़ी ? संस्कृत के गढ़ काशी-क्षेत्र में वह क्यों न अवतरित हो गई ? खड़ी बोली के क्षेत्र में कदाचित् संस्कृत भी कृदन्त-प्रधान ही कभी चलती हो।" राजशेखर ने लिखा था कि उदीच्य लोग कृदन्त क्रियाएं बहुत पसन्द करते हैं, यह हवाला देने के बाद वाजपेयी ने लिखा है, "इसका मतलब यह भी हो सकता है कि इस क्षेत्र के संस्कृत-विद्वानों पर अपनी जनभाषा का प्रभाव पड़ा और वे अपनी मातृभाषा की पद्धति पर (संस्कृत के) कृदन्त प्रयोग अधिक करने लगे। यह भी संभव है कि संस्कृत नहीं, उस समय की 'खड़ी बोली' के बारे में हो उनकी कलम से वैसा निकला हो, यद्यपि संस्कृत-ग्रन्थ में वे वैसा कह रहे हैं। उस समय 'खड़ी बोली' प्रकट होकर जन-व्यवहार में मदद दे रही थी।" (पृष्ठ २९) इस पद्धति से हिन्दी-संस्कृत के सम्बन्धों पर विचार किया जाय तो भाषाविज्ञान की अनेक समस्याएँ हल हो सकती हैं। यहाँ मौलिक उद्भावना यह है कि संस्कृत ने ही हिन्दी को प्रभावित नहीं किया, हिन्दी ने भी संस्कृत को प्रभावित किया है।

वैदिक ताति से ताई (सुन्दरताई का ताई), वैदिक रामेभिः से रामेहिं, करहिं से करें का विकास, अस्-भू तथा हिन्दी की ह, हो धातुओं का विवेचन—ऐसे अनेक तथ्य इस पुस्तक में मिलेंगे जो पहले चमत्कारी लगते हैं, फिर स्वाभाविक। कम से कम अपनी भाषा को नयी दृष्टि से देखने और उसके प्रयोगों पर नये सिरे से विचार करने की प्रेरणा दे देते हैं। यह इस पुस्तक की बहुत बड़ी सफलता है।

व्याकरण और भाषाविज्ञान की पुस्तकें प्रायः नीरस होती हैं। विषय जितना कठिन होता है, उससे ज्यादा कठिन विद्वत्ता की धाक जमाने के लिये बनाया जाता है। वाजपेयी जी ने अपनी पुस्तक को यथेष्ट रोचक बनाया है। इसमें ग्रामगीतों के

टुकड़े हैं—"बगदि गयो पुलिया ते मेरो सरमीलो भरतार।" शैली अनेक उपमाओ से अलंकृत है। व्यंग्य और हास्य की छटा अलग दर्शनीय है। सभा के अधिकारियों का आग्रह न मानकर वाजपेयी जी ने अपनी शैली को ज्यो का त्यो रखा, उसे बदलने से इन्कार कर दिया, यह उन्होने बहुत अच्छा किया। पाठको से हमारा आग्रह है कि 'हिन्दी शब्दानुशासन' नाम से आतंकित न होकर वे इस पुस्तक को अवश्य पढ़ें। व्याकरण में रुचि न होने पर भी उन्हें पुस्तक से आनन्द-लाभ होगा क्योंकि वह जनसाधारण के लिये भी लिखी गई है।

अनेक बातें कई जगह दोहराई गई हैं, बजाज और हलवाई की उपमा की पुनरावृत्ति है, 'सो' की भरमार है, कुछ तथ्य गलत हैं जैसे कि यूरोप की सभी भाषाओं की लिपि रोमन है, बंगाल की वैष्णव कविता ब्रजभाषा मे है, इत्यादि। बैसवाड़े और अवध का उल्लेख इस तरह हुआ है मानो बैसवाडा अवध से स्वतन्त्र प्रदेश हो, या बैसवाड़ी अवध क्षेत्र से बाहर की बोली हो। कहीं-कहीं मजाक बहुत हल्के ढग का है। ये दोष थोड़ी सावधानी से पुस्तक दोहराने पर दूर हो सकते थे और उसका कलेवर भी संक्षिप्त हो सकता था जिससे वह अधिक प्रभावशाली होती।

इन दोषों पर ध्यान न देकर पुस्तक की मूल स्थापनाओं पर विचार करना चाहिये। उसके दृष्टिकोण, तर्क-पद्धति, हिन्दी-प्राकृत-संस्कृत-सम्बन्ध-विवेचन पर ध्यान देना चाहिये, हिन्दी की प्रकृति, हिन्दी और उसकी बोलियों का सम्बन्ध पहचानना चाहिये। वाजपेयी जी को हिन्दी के वैयाकरणों और भाषा-वैज्ञानिको से जो असन्तोष है, वह उचित है। उन्होंने उनका जो उपहास किया है, वह भी उचित है यद्यपि समुचित नहीं क्योंकि उनके गुरुओं पर उनकी दृष्टि नहीं गई। इस पुस्तक के महत्व पर अधिक न कह कर इस सम्बन्ध में वाजपेयी जी की ही उक्ति का समर्थन करते हैं, "बहुत बड़ा काम हो गया है।"



# १४ | आचार्य शुक्ल और ब्रजभाषा की परम्परा

हिन्दी-भाषी प्रदेश की बोलियाँ एक दूसरे से इतनी सम्बद्ध हैं कि उनमें से एक का इतिहास जानने के लिये अन्य सब का अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है। इन बोलियों में ब्रजभाषा का अन्यतम स्थान है। उसने पश्चिम मे खड़ीबोली—हिन्दी और उर्दू के दोनों रूपों—को ही प्रभावित नहीं किया, वरन् पूर्व मे अवधी, मैथिल आदि पर भी उसका प्रभाव पड़ा है। इसके साथ ही वह स्वयं भी इन बोलियों से प्रभावित हुई है। बोलियों के परस्पर आदान-प्रदान की यह क्रिया आज भी समाप्त नहीं हुई। वैसे तो भारत की सभी भाषाएँ एक-दूसरे को प्रभावित करती रही हैं, किन्तु एक ही भाषा-क्षेत्र में विभिन्न जनपदीय बोलियों का परस्पर आदान-प्रदान एक भिन्न स्तर की प्रक्रिया है। डॉ० शिवप्रसादसिंह ने अपने शोध ग्रंथ 'सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य' में ग्रन्थ के नामानुरूप सूरदास से पूर्व की ब्रज-भाषा और उसके साहित्य का अध्ययन किया है। इस तरह का ग्रन्थ ब्रजभाषा के विकास को समझने में सहायक हो सकता है; साथ ही अन्य बोलियों के विकास, परस्पर सम्बन्ध और उनकी साहित्य-सम्पदा का अध्ययन करने में भी सहायता कर सकता है।

ग्रंथकर्ता ने आरम्भ में ब्रजभाषा के रिक्थ की चर्चा करते हुए वैदिक भाषा, पालि आदि की भाषा सम्बन्धी पृष्ठभूमि का चित्रण किया है। ब्रजभाषा के उद्-गम के सिलसिले में हेमचन्द्र के व्याकरण में उद्धृत दोहों की भाषा का विश्लेषण किया है। बारहवीं से चौदहवीं विक्रमी शताब्दियों के 'संक्रान्तिकाल' में पिंगल, औक्तिक ब्रज, प्राकृतपिंगलम् और रासो आदि की भाषा की चर्चा है। अप्रकाशित सामग्री में उसनें तेरह सूर-पूर्व पुस्तकों का विवेचन किया है जिनमें अधिकांश का उल्लेख खोज-रिपोर्टों में हुआ था किन्तु जिनका न प्रकाशन हुआ है न विवेचन। "कवि ठक्कुरसी की सूचना पहली बार प्रकाशित की जा रही है। आमेर भंडार के हस्तलिखित ग्रंथों की सूची में इस कवि का नामोल्लेख मात्र हुआ है।" इसके बाद गुरु ग्रन्थ में ब्रजकवियों की रचनाओं, अन्य कवियों और हिन्दीतर प्रान्तों के

ब्रजभाषा में लिखने वाले कवियों का वर्णन है। अन्त में 'आरम्भिक ब्रजभाषा' का भाषा शास्त्रीय विश्लेषण है और प्राचीन ब्रजभाषा काव्य के उद्गम, स्रोत और विकास तथा प्रमुख काव्यधाराओं का विवेचन है।

शोध ग्रन्थ के विषय की परिधि अनावश्यक रूप से विशाल है। शोध कार्य के निर्देशक विषय को कुछ सीमित रखें तो अनुसन्धान और गहराई से हो। डॉ० शिवप्रसादसिंह को काफी परिश्रम करना पड़ा है जिसके कुछ अंश से तो वह बच ही सकते थे। इस विवेचन से भाषा शास्त्र के प्रति हिन्दी विद्वानों की रुचि बढ़ेगी और उन्हें हिन्दी साहित्य का भरा-पूरा इतिहास लिखने की प्रेरणा मिलेगी। पुस्तक का महत्व असंदिग्ध है यद्यपि यह महत्व वैसा ही नहीं है जैसा कि भूमिका मे, आवरण पृष्ठ पर और ग्रन्थ के अनेक पृष्ठो मे विज्ञापित है।

सूर-पूर्व ब्रजभाषा पर चिन्तन करने की प्रेरणा अनुसन्धानकर्ता को सम्भवत. आचार्य शुक्ल से मिली। (विषय स्वय उसने न चुना हो तो प्रेरणा उसके निर्देशक को मिली होगी, क्योकि लेखक ने 'आभार" मे "सन् १९५३ मे गुरुवर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने जब सूर-पूर्व ब्रजभाषा साहित्य के सन्धान का कार्य मुझे सौंपा" इत्यादि लिखा है।) पुस्तक के आरम्भ में सूर पूर्व ब्रजभाषा-काव्य परम्परा से सम्बन्धित शुक्लजी का एक वाक्य उद्धृत है जिसके अन्तिम अंश में कहा गया है, "सूरसागर किसी चली आती हुई गीत-काव्य परम्परा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है।"

आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास तथा 'बुद्धचरित' की भूमिका में ब्रजभाषा और उसकी काव्य परम्परा की चर्चा की है। ब्रज, अवधी और खड़ी-बोली की तुलना करते हुए उन्होने जनपदीय बोलियों के तुलनात्मक अध्ययन की एक प्रणाली स्थापित की है। उनकी मान्यताओं और तर्कों का विश्लेषण किये बिना न हिन्दी साहित्य का नया इतिहास लिखा जा सकता है, न हिन्दी प्रदेश की किसी बोली या भाषा का अध्ययन किया जा सकता है। कठिनाई केवल एक है कि "शुक्लजी का प्रभाव और व्यक्तित्व इतना आच्छादक था कि उनकी इस मान्यता को (कि जैन साहित्य धार्मिक होने के कारण इतिहास से बहिष्कृत रहे) बहुत से विद्वान् आज भी श्रद्धापूर्वक स्वीकार करने में संकोच का अनुभव नहीं करते। शायद ऐसी ही मान्यता से किंचित् रुष्ट होकर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है" इत्यादि। रुष्ट हों द्विवेदी जी और उसका फल भोगें डॉ० शिवप्रसाद सिंह, यह अनुचित है। फिर द्विवेदी जी स्वर्गीय आचार्य शुक्ल के स्थानापन्न प्राध्यापक हैं। किंचित् से अधिक रोष भी उन्हें शोभा दे सकता है। नये अनुसंधान-कर्ता उनकी नकल क्यों करें?

शुक्लजी के इतिहास में हम पढते हैं, "ये ही दो बातें दिखाने के लिए इस इतिहास में सिद्धों और योगियों का विवरण दियागया है, उनकी रचनाओं का

जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई सम्बन्ध नहीं। वे साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र हैं, अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं। उन रचनाओं की परम्परा को हम काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं कह सकते। अतः धर्म-सम्बन्धी रचनाओं की चर्चा छोड़, अब हम सामान्य साहित्य की जो कुछ सामग्री मिलती है, उसका उल्लेख उनके संग्रहकर्ताओं और रचयिताओं के क्रम से करते हैं।"

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि शुक्लजी ने योगियों और सिद्धों के साम्प्रदायिक ग्रंथों की—जिनका कोई साहित्यिक महत्व न हो—चर्चा करना अनावश्यक समझा है। चर्चा को अनावश्यक बताने पर भी उन्होंने बीस पृष्ठों में इन सिद्धों और योगियों के मत का वर्णन किया है और उनकी भाषा का विवेचन किया है। लूहिपा, विरूपा, कण्हपा, कुक्कुरिपा आदि के उद्धरण वज्रयान के प्रेमी पाठक उनके इतिहास में पढ़ सकते हैं। ये सिद्धजन जैन नहीं थे, बौद्ध थे। नाथपंथी योगी भी जैन नहीं थे वरन् बौद्ध धर्म से प्रभावित हिन्दू योगी थे। शुक्लजी ने जैन कवियों के साथ किसी विशेष भेदनीति से काम नहीं लिया। इसके विपरीत साम्प्रदायिक शिक्षा ग्रंथों को छोड़कर जब वह सामान्य साहित्य की चर्चा करते हैं, तब सबसे पहले हेमचन्द्र का नाम आता है जिसके लिये उन्होंने लिखा है कि "ये अपने समय के सबसे प्रसिद्ध जैन आचार्य थे।" इनके बाद सोमप्रभ सूरि का नाम है; "ये भी एक जैन पंडित थे।" इसी प्रकार 'जैनाचार्य्य' मेरुतुङ्ग का विवरण है। शुक्लजी से किंचित् रुष्ट होने का कारण उनके इतिहास को जल्दी में पढ़कर कुछ गलत धारणाएँ बना लेना ही हो सकता है।

शोधग्रंथ की भूमिका में डॉ० द्विवेदी ने लिखा है, "विद्वानों की धारणा रही है कि ब्रजभाषा में सगुण भक्ति का काव्य ब्रजप्रदेश में वल्लभाचार्य के आगमन के बाद लिखा जाने लगा। शिवप्रसाद जी के इस निबन्ध से इस मान्यता का उचित निरास हो जाता है।"

डॉ० शिवप्रसादसिंह ने भी लिखा है, "पं० रामचन्द्र शुक्ल ने मध्यप्रदेश में भक्ति आन्दोलन का सूत्रपात खास तौर से ब्रजभाषा-प्रदेश में वल्लभाचार्य के आगमन के बाद माना है।"

शुक्लजी ने भक्ति आंदोलन का सम्बंध वल्लभाचार्य के अलावा विद्यापति और जयदेव से जोड़ा है, भागवत में वर्णित कृष्णलीला को उसका स्रोत माना है, दक्षिण की कवयित्री अन्दाल का उल्लेख किया है, "जिसका जन्म संवत् १७७३ में हुआ था।"

शुक्लजी ने वल्लभाचार्य का समय १५३५—१५८७ वि० दिया है। इससे पहले उनके अनुसार रामानुजाचार्य (सं० १०७३) ने (पाँच शताब्दियाँ पहले) "सगुण भक्ति का निरूपण किया था और उसकी ओर जनता आकर्षित होती

चली आ रही थी।" मध्वाचार्य (सं० १२५४-१३३३) ने अपना "द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदाय चलाया जिसकी ओर बहुत से लोग झुके।" पन्द्रहवीं शताब्दी में "रामानन्द जी हुए जिन्होंने विष्णु के अवतार राम की उपासना पर ज़ोर दिया।" और भी—"भागवत धर्म का उदय यद्यपि महाभारत काल में ही हो चुका था", वैष्णव धर्म के सांप्रदायिक स्वरूप का संगठन दक्षिण में हुआ। इस प्रकार शुक्लजी ने भक्ति आन्दोलन का सूत्रपात वल्लभाचार्य से बहुत पहले माना है। शुक्लजी की यह धारणा भी नहीं है कि ब्रजभाषा में कृष्णभक्ति की स्थापना सबसे पहले सूरदास ने की। लिखा है, "राधाकृष्ण की प्रेमलीला के गीत सूर के पहले से चले आते थे, यह तो कहा ही जा चुका है। बैजू बावरा एक प्रसिद्ध गवैया हो गया है" इत्यादि।

देखना चाहिए कि शिवप्रसाद जी ने कृष्णभक्ति की परम्परा की किन खोई हुई कड़ियों को ढूंढ निकाला है। उन्होंने सबसे पहले भागवत का उल्लेख किया है जिसका पता ठिकाना हमें शुक्लजी ने भी बताया था। भास के नाटकों में "कृष्ण के जीवन-चरित्र को नाट्य वस्तु के रूप में ग्रहण किया गया था।" इससे भास कृष्णभक्त कवि सिद्ध नहीं होते। "शिशुपाल वध आदि में कृष्ण के जीवन और कार्यों का वर्णन किया गया है।" भक्ति की चर्चा में ये सब उल्लेख अप्रासंगिक हैं।

अब आइये अपभ्रंश के क्षेत्र में। पुष्पदन्त ने महापुराण लिखा, "जिसमें कृष्ण जीवन का विशद चित्रण किया गया है। इस ग्रंथ में कृष्ण भक्ति के निश्चित रूप का तो पता नहीं चलता" इत्यादि। शुक्लजी को भी पुष्पदन्त का नाम मालूम था किन्तु उन्होंने भक्ति के प्रसंग में उचित ही उसका नामोल्लेख नहीं किया। पुष्पदन्त के बाद हेमचन्द्र-संकलित अपभ्रंश के "दो ऐसे दोहे हैं जिनमें कृष्ण सम्बन्धी चर्चा है। एक में तो स्पष्ट रूप से कृष्ण और राधा के प्रेम की चर्चा की गई है। मेरा ख़याल है कि ये दोहे एतत्-सम्बन्धी किसी पूर्ण काव्य ग्रंथ के अंश हैं।" जब तक वह पूर्ण काव्य-ग्रन्थ सुलभ न हो तब तक कृष्णभक्ति की त्रुटित परम्परा में यह एक ही दोहा हाथ लगता है। इसका भावार्थ समझाते हुए शोधकर्ता ने लिखा है, "हरि को प्रांगण में नचाने वाले तथा लोगों को विस्मय में डाल देने वाले राधा के पयोधरों को जो भावे सो हो।" इस भावार्थ के अन्तिम अंश का भाव अस्पष्ट है—"जो भावे सो हो"—किन्तु आगे की टिप्पणी स्पष्ट है: "इस पद में राधाकृष्ण के प्रेम का संकेत तो मिलता है किन्तु उस प्रेम को भक्ति सयुक्त मानने का कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता।" इस तरह यह दोहा भी हाथ से गया। दूसरा दोहा "अवश्य ही स्तुतिमूलक है।" किन्तु दोहा उद्धृत करने के बाद लेखक को पुनः संशय जकड़ लेता है: इस पद्य में नारायण और बलि की कथा का संकेत मिलता है, इसमें भी हम बहुत अंशों तक भक्ति के मूल भावों का निदर्शन नहीं पाते।" चलिये छोड़िये इसे भी। अब आशा यह रहती है कि ये दोहे आरम्भिक ब्रजभाषा के अज्ञात कृष्ण काव्यों की सूचना तो देते ही हैं, इस तरह का न जाने कितना विपुल

साहित्य रहा होगा जो दुर्भाग्यवश आज प्राप्त नहीं होता।" जो भी हो, उसे प्राप्त न कर सकने के लिये हम शुक्ल जी को अपराधी नहीं ठहरा सकते। प्राकृतपैंगलम् की चर्चा भी विशेष आशाजनक नहीं। कृष्ण-सम्बन्धी पद्यों मे "लौकिक प्रेम का पूरा रूप प्रस्तुत करते हुए भी उसमें चिन्मय सत्ता का आरोप किया गया है।" क्या यह भक्ति का कोई विशेष लक्षण है ? अनेक पद्यों मे कृष्ण की स्तुति है किन्तु लेखक को स्वयं स्तुतिमात्र से संतोष नहीं होता। "यह पद्य वैसे मूलतः स्तुतिपरक है किन्तु एक पंक्ति में कृष्ण और राधा के प्रेम-सम्बन्धों पर भी प्रकाश पड़ता है।"

डूबता आदमी जैसे तिनकों का सहारा ढूँढ़ता है, वैसे ही बेचारे शोधक ने कहीं एक पंक्ति, कही डेढ़ शब्द का सहारा लेकर अनुसन्धान-वैतरणी को पार करने का भगीरथ प्रयत्न किया है। शुक्लजी ने भी प्राकृत पैंगलम् का उल्लेख किया है यद्यपि भक्ति आन्दोलन से उसका सम्बन्ध जोड़ना उन्होंने आवश्यक नहीं समझा।

अब आइये अगले विकास की ओर। "ब्रजभाषा में कृष्ण भक्ति सम्बन्धी *काव्य का अगला विकास सन्त कवियों की रचनाओं मे हुआ।"* इन सन्तों में सबसे पहले नामदेव का नाम लिया गया है। इनके बारे में शुक्लजी पहले ही लिख गये थे कि "महाराष्ट्र के भक्तों में नामदेव का नाम सबसे पहले आता है।" मराठी के अलावा "इनकी हिन्दी रचनाएँ भी प्रचुर परिमाण में मिलती हैं।" इसके बाद कबीर का नाम आता है। शुक्लजी ने इनमें भी भक्ति भावना के चिह्नों का उल्लेख किया है, "यद्यपि कबीर की बानी निर्गुन बानी कहलाती है पर उपासना क्षेत्र में ब्रह्म निर्गुण नहीं बना रह सकता। सेव्य-सेवक भाव में स्वामी में कृपा, क्षमा, औदार्य्य आदि गुणों का आरोप हो ही जाता है।" कबीर निर्गुण पंथी नहीं थे, पूर्णतः कृष्ण-भक्त थे, यह दावा शोधकर्ता का भी नहीं है।

इसके बाद रैदास का नाम है। शुक्लजी ने भी कबीर के बाद इन्हीं की चर्चा की है। उनके कुछ पद उद्धृत करने के बाद डा० शिवप्रसादसिंह ने *लिखा है,* "रैदास की इस प्रकार की कविताओं में प्रेम की जिस सहज अनुभूति और पीड़ा की विवृति हुई है क्या वह परवर्ती काल में सूर की विरहिणी गोपियों की अनुभूतियों से मेल नहीं खाती ?" अधिक से अधिक मेल ही खा सकती है; उसे कृष्ण भक्ति काव्य में दर्ज नहीं किया जा सकता। 'संगीतकार कवियों' में गोपाल नायक का उल्लेख किया गया है। इनकी "बहुत कम रचनाएँ प्राप्त हुई हैं।" 'राग कल्पद्रुम' से डा० सिंह ने चार पंक्तियों का एक पद उद्धृत किया है जिसमें 'लोई माँगना' की तुक 'ले मुराद मालवा' से मिलाई गई हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास में यदि ऐसा एक पद उद्धृत न किया गया हो तो वृद्ध आचार्य को क्षमा किया जा सकता है।

गोपाल नायक के बाद आये बैजू बावरा। इन्हीं के सिलसिले में शुक्लजी ने

लिखा था कि राधाकृष्ण की प्रेम लीला के गीत सूर के पहले से चले आते थे और बैजू का यह पद भी उद्धृत किया है।

"मुरली बजाय रिझाय लई मुख मोहन तें।"—इत्यादि।

इसके उपरान्त अप्रकाशित काव्यों के रचयिता "विष्णुदास, मेघनाथ आदि कवियों ने कृष्ण के जीवन-चरित्र से सम्बद्ध महाभारत, गीता आदि के भावानुवाद किये हैं।" कहना न होगा कि कृष्णभक्ति के कृष्ण और गीता-महाभारत के कृष्ण में थोड़ा अन्तर है।

इसके बाद पूर्ण विश्वास से यह निष्कर्ष घोषित है : "इस प्रकार हमने देखा कि ब्रजभाषा में कृष्णभक्ति काव्य की परम्परा काफी पुरानी है। सूरदास के समय में अचानक *कृष्णभक्ति के काव्य का उदय नहीं हुआ और न सूरदास* इस प्रकार के प्रथम कवि हैं।" इस निष्कर्ष से शुक्लजी ने हमे पहले ही परिचित करा दिया था; उन्होंने भक्तिकाव्य-परम्परा का जो अनुसन्धान किया था, उसमें डा० शिव-प्रसादसिंह ने कुछ कड़ियाँ छोड़ अवश्य दी हैं, नयी एक भी नहीं जोड़ी।

शुक्लजी के विरुद्ध अभियोग यह था कि उन्होंने भक्ति-आन्दोलन का सूत्रपात 'खास तौर से ब्रजभाषा प्रवेश में' वल्लभाचार्य के आगमन के बाद माना है। क्या डा० शिवप्रसादसिंह ने ब्रजभाषा क्षेत्र के किसी नये कृष्णभक्त का पता दिया है? न नामदेव ब्रज भूमि के थे, न कबीर। विष्णुनाथ और मेघनाथ भी ग्वालियर के थे। इस तरह *'खास तौर से' ब्रजभाषा प्रदेश के उस अज्ञात-नाम भक्त-कवियों* का पता लगना अभी बाकी है जिनकी जानकारी न होने से शुक्लजी का इतिहास अधूरा रह गया है।

डा० द्विवेदी ने अपनी भूमिका में लिखा है कि "शिवप्रसादजी ने सूर पूर्व ब्रजभाषा के जैन-काव्य का बहुत सुन्दर और सन्तुलित विवेचन किया है तथा पूर्व-वर्ती अपभ्रंश और परवर्ती ब्रजभाषा काव्य के अध्ययन में उसका उचित महत्व भी दिखाया है।" पूर्ववर्ती अपभ्रंश की कुछ पंक्तियों से परवर्ती ब्रजभाषा काव्य अर्थात् कृष्ण भक्ति काव्य का सम्बन्ध किस तरह जोड़ा गया है, यह हम ऊपर देख चुके हैं। *जैन काव्य का—हिन्दू काव्य, बौद्ध काव्य, मुस्लिम काव्य की तरह*—जो भी अर्थ हो, शिवप्रसादजी ने जिन सूरपूर्व जैन कवियों की चर्चा की है, उनका कृष्णभक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। जिसने शोध ग्रन्थ को पढ़ा न हो, केवल उसके पन्ने पलटे हों, उसके मन में यह धारणा बन सकती है कि जिन अप्रकाशित रचनाओं का उल्लेख किया गया है, उनसे सूरदास और उनके बाद के भक्त कवियों की परम्परा जोड़ी गई है। आवरण पृष्ठ पर प्रकाशित विद्वानों की सम्मतियों में कहा गया है कि इस ग्रन्थ में "ब्रजभाषा के पुराने साहित्य का धारावाहिक इति-हास" प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने सूरपूर्व ब्रजभाषा की अप्रकाशित सामग्री का "क्रमबद्ध विवेचन करते हुए भाषाशास्त्रीय और साहित्यिक मूल्यांकन प्रस्तुत

किया है।" "इस प्रबन्ध में सूरपूर्व ब्रजभाषा की टूटी हुई शृंखला को जोड़ कर इसके साहित्य को सभी पहलुओं के साथ अत्यन्त विस्तार और स्पष्टता के साथ उपस्थित किया गया है।" इन सम्मतियों को पढ़कर ऐसा लगता है मानो भाषा के साथ शोधकर्ता ने सूर-साहित्य की खोई हुई पूर्व परम्परा भी ढूंढ़ निकाली है।

प्रथम अप्रकाशित पुस्तक जिसका विवेचन किया गया है 'प्रद्युम्न चरित' है। इसमें कृष्ण की अनेक लीलाओं के साथ अपने पुत्र से उनके युद्ध का वर्णन भी है। प्रद्युम्न ने अपनी माँ को साथ लेकर पिता कृष्ण को ललकारा—"मैं तुम्हारी प्राणवल्लभा को अपहृत करके ले जाता हूँ।" कृष्ण के अस्त्र-शस्त्र व्यर्थ हो गये। नारद ने आकर पिता से पुत्र का परिचय कराया। "कृष्ण ने व्यंग्यपूर्वक प्रद्युम्न से रुक्मिणी को ले जाने को कहा।" प्रद्युम्न ने विवाह भी किया था कृष्ण-शत्रु दुर्योधन की पुत्री से। स्पष्ट ही यह काव्य, जो चौबीस तीर्थङ्करों की वन्दना से आरम्भ होता है और जिसके अन्त में कृष्ण और यादवों के अवसान के बाद "प्रद्युम्न ने जिनेन्द्र से दीक्षा ली", संकीर्ण साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से लिखा गया है। पिता-पुत्र में माता को लेकर इस तरह का मजाक किसी भी देश की संस्कृति में वर्जित माना जायगा; सूरदास या अन्य भक्त कवियों से उसका क्या सम्बन्ध है, उसकी कल्पना की जा सकती है।

कवि दामों की लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा, डूंगर बावनी, मानिक कवि की बैताल-पच्चीसी, ठक्कुरसी की पंचेन्द्रिय बेलि, पार्श्वनाथ शकुन सत्तावीसी आदि का भी सूर या उनकी परवर्ती साहित्य-परम्परा से कोई सम्बन्ध नहीं है। 'छिताई वार्ता' की कथा "अत्यन्त रोमानी और मर्मस्पर्शी है।" इसी प्रकार चतुर्भुजदास की 'मधु मालती' रोमानी हो सकती है, सूर-परम्परा की कड़ी नहीं। इन सब पुस्तकों का स्वतन्त्र विवेचन बहुत दिलचस्प हो सकता है लेकिन यह कहना कि इनके द्वारा ब्रजभाषा के पुराने साहित्य का धारावाहिक इतिहास प्रस्तुत किया गया है, पाठकों की आँखों में धूल झोंकना है। कुछ स्थलों पर स्वयं शोधकर्ता ने जैन कवियों का इस तरह उल्लेख किया है मानो वह उनसे भक्त कवियों का सम्बन्ध जोड़ रहा हो। पृ० १५ पर लिखा है, "कबीर या अन्य सन्तों की विचारधारा के मूल में नाथ सिद्धों के प्रभाव ढूँढ़ने का प्रयत्न तो होता है किन्तु जैन संतों के प्रभाव को विस्मरण कर दिया जाता है।" शोधग्रन्थ में ऐसी कोई बात नहीं कही गई जिससे जैन 'सन्तों' का प्रभाव कबीर या अन्य सन्तों की विचारधारा पर दिखाई पड़े। यह बात अवश्य सम्भव है कि "सिद्ध साहित्य की अपेक्षा जैन साहित्य में रूप सौन्दर्य का चित्रण कहीं ज्यादा बारीक और रंगीन हुआ है।" (पृ० २८२)

डॉ० सिंह ने जैन कवियों के चरित-काव्यों से हिन्दी की समानधर्मा परवर्ती रचनाओं का सम्बन्ध जोड़ा है। इसके लिये भी उन्हें शुक्लजी का आभार मानना चाहिये। उन्होंने अपने इतिहास में लिखा था, "सम्वत् ९९० में देवसेन नामक एक

जैन ग्रन्थकार हुए हैं।" इनके दब्व-सहाव-पयास (द्रव्य-स्वभाव-प्रकाश) का 'गाथा या साहित्य की प्राकृत' में रूपान्तर किया गया। "इसके पीछे तो जैन कवियों की बहुत सी रचनाएँ मिलती हैं, जैसे श्रुतिपंचमी कथा, योगसार, जसहर-चरिउ, णयकुमार चरिउ इत्यादि। ध्यान देने की बात यह है कि चरित्र-काव्य या आख्यानकाव्य के लिये अधिकतर चौपाई-दोहे की पद्धति ग्रहण की गई है।" पुष्पदन्त के आदि पुराण और चौपाइयों में लिखे हुए "जसहर-चरिउ" का उल्लेख करने के बाद शुक्लजी ने यह मत प्रकट किया है, "चौपाई-दोहे की परम्परा हम आगे चलकर सूफियों की प्रेम-कहानियों में, तुलसी के रामचरितमानस में तथा छत्र प्रकाश, ब्रजविलास, सबलसिंह चौहान के महाभारत इत्यादि अनेक आख्यान-काव्यों में पाते हैं।" इस प्रकार शुक्लजी ने अवधी और ब्रज के काव्य रूपों का सम्बन्ध भी जैन कवियों की रचनाओं से जोड़ा था।

अब देखना चाहिए, सूरपूर्व काव्य की भाषा के बारे में आचार्य शुक्ल ने कौन से भ्रम फैलाए हैं और नवीन अनुसन्धान ने किस तरह उनका निवारण किया है।

शोध ग्रन्थ को पढ़कर लगता है कि ज्यादातर विद्वानों ने ब्रजभाषा का आरंभ सूरदास से माना है अर्थात् हिन्दी के अधिकांश अन्धपंडितों की निगाह में सूरदास अपनी अद्भुत काव्य प्रतिभा के साथ अकस्मात् एक नई भाषा भी लेकर अवतरित हो गए। शुक्लजी को इतना ही श्रेय है कि उन्होंने इस मान्यता पर 'कुछ संकोच और द्विधा व्यक्त की है।' गनीमत है, यहाँ वल्लभाचार्य और भक्ति के सिलसिले की तरह शुक्लजी ने एकदम भ्रान्त धारणा का प्रचार नहीं किया।' 'वे प्रमाणों के अभावों में सूरसार को ब्रजभाषा की पहली रचना मानने के लिए विवश थे" किन्तु अपने 'प्रबल सत्याभिनिवेश' के कारण उन्हें एक गीत-काव्य-परम्परा की— 'भले ही वह मौखिक रही हो'—कल्पना करनी पड़ी। शोधकर्ता की सहानुभूति सराहनीय है। उसने शुक्लजी की ऐतिहासिक सीमाओं का ध्यान रखते हुए उन्हें एक काव्य-परम्परा की कल्पना करने के लिए बधाई दी है। फिर भी शुक्लजी ने अपभ्रंश और वीरगाथाकाल, 'दोनों ही युगों के साहित्य पर अन्यमनस्क भाव से विचार किया है।' शुक्लजी ने अपने इतिहास में विभिन्न धाराओं का विश्लेषण किया, साथ ही उनकी भाषा की छानबीन करना भी उनके उद्देश्य में शामिल था। "यह बात दूसरी है कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उनके पास ज्यादा अवकाश और स्थल न था।' विशेष रूप से निर्गुण सन्त धारा के प्रति 'उनके हृदय में स्पष्टतः बहुत उत्साह नहीं था।' इसलिए सन्तों की भाषा के प्रति भी उन्होंने बहुत आकर्षण नहीं दिखाया। 'सन्तों की भाषा को सधुक्कड़ी नाम देकर शुक्लजी आगे बढ़ गए।' कहीं कुछ 'सोच-विचार किया' तो लिखा कि परम्परागत काव्य-भाषा का ढाँचा नागर अपभ्रंश या ब्रज का था, नाथपंथियों ने अलग सधुक्कड़ी भाषा का सहारा लिया। शोधकर्ता को स्वीकार करना पड़ा है कि शुक्लजी के अनुसार

निर्गुण पंथियों ने ब्रजभाषा का व्यवहार किया था; इसलिए पैंतरा बदलकर वह प्रश्न करता है कि फिर शुक्लजी को सूरदास की भाषा पर आश्चर्य क्यों हुआ ? 'इस काल का अप्रकाशित साहित्य तो सूरदास की पूर्व पीठिका के अध्ययन की दृष्टि से बहुमूल्य है ही'—लेकिन शुक्लजी को इस अप्रकाशित साहित्य का पता न था। खैर, इसके लिए क्षमा किया, लेकिन 'प्रकाशित साहित्य में नामदेव से लेकर नानक तक' की रचनाओं को देखने का भी वह कष्ट करते तो उन्हें मालूम होता कि '५० प्रतिशत से भी अधिक रचनाएँ ब्रजभाषा की हैं।' इन सन्तों की भाषा के बारे में शुक्लजी और डा० सिंह की मान्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन काफी रोचक होगा।

सन्तों से पहले खुसरो को लीजिए। 'खुसरो की भाषा का पं० रामचन्द्र शुक्ल ने बहुत सही विश्लेषण किया है।' ये शब्द डा० शिवप्रसादसिंह के ही हैं। उनके अत्यन्त विस्तृत, परम वैज्ञानिक विवेचन का परिणाम वही है जिसे शुक्लजी पहले लिख गए थे। बचाव का कोई रास्ता नहीं है। शुक्लजी ने स्पष्ट लिखा है कि 'खुसरो के गीतों और दोहों की भाषा ब्रज या मुख-प्रचलित काव्य भाषा ही है।' आपने वृद्ध आचार्य के विश्लेषण को सही होने का सर्टिफिकेट दिया, इसके लिए हार्दिक धन्यवाद !

अब लीजिए कबीर की भाषा को। डा० सिंह ने शुक्लजी का यह कथन उद्धृत किया है कि कबीर ने दो तरह की भाषा लिखी है; उनके गीतों में ब्रजभाषा का व्यवहार किया गया है, कहीं-कहीं पूरबी बोली का भी। खुसरो और कबीर द्वारा ब्रजभाषा के प्रयोग के बारे में शुक्लजी ने लिखा है, 'इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गीतों के लिए काव्य की ब्रजभाषा ही स्वीकृत थी।' डा० सिंह का निष्कर्ष है कि कबीर ने जहाँ आत्मनिवेदन, आत्मा-परमात्मा-मिलन के गीत गाए हैं, वहाँ 'उनकी रचनाओं का माध्यम ब्रजभाषा हो जाती है।' शुक्लजी के विश्लेषण को सही होने का सर्टिफिकेट न देकर भी उसे अपने ही शब्दों में दोहरा दिया गया है। इसके लिए भी बधाई।

अब गुरु नानक को लीजिए। 'शुक्लजी ने नानक की भाषा पर निर्णय दिया है वह बहुत कुछ ठीक है।' लेखक ने यह नहीं बताया कि शुक्लजी का निर्णय कम ठीक कहाँ पर है। फिर भी उसने शुक्लजी का अनुसरण किया है, इसके लिए पुनः बधाई। शुक्लजी ने गुरु नानक के हिन्दी पदों की भाषा के बारे में लिखा था, 'यह हिन्दी कहीं तो देश की काव्य-भाषा या ब्रज भाषा है, कहीं खड़ी बोली, जिसमें इधर-उधर पंजाबी के रूप भी आ गए हैं।' इससे फिर प्रकट होता है कि शुक्लजी ने सूरपूर्व ब्रजभाषा काव्य-परम्परा के अस्तित्व पर बराबर जोर दिया है।

मीरा की भाषा के बारे में अनेक मत हैं। डा० शिवप्रसादसिंह ने स्पृहणीय उदारता के आवेश में लिखा है, 'मैं इस विषय में पं० रामचन्द्र शुक्ल का निष्कर्ष

ही उचित मानता हूँ कि उनके पद दो प्रकार की भाषा में लिखे गए थे।' राज-स्थानी और ब्रज।' पुनः-पुनः धन्यवाद। स्वर्गीय आचार्य कृतार्थ हुए। यह वही शुक्लजी हैं जो सन्तों की भाषा को सधुक्कड़ी नाम देकर आगे बढ़ गए थे। बहुत सोच-विचारकर कुछ लिखा भी था तो यही *कि काव्य-भाषा का ढाँचा नागर अप-भ्रंश या ब्रज का था!* कितने आश्चर्य की बात है कि खुसरो, कबीर, नानक, मीरा आदि की भाषा के बारे में उन्हीं शुक्लजी का मत दोहराया जाता है और मुख-मण्डल पर कहीं लज्जा की लालिमा झलकती नहीं, न कर-कमलों में कहीं लेखनी ही कम्पित होती है! वास्तव मे आश्चर्य की बात कुछ नही है। ये पी-एच० डी०, डी० लिट्० आदि डिग्रियाँ प्राप्त करने के गुर हैं। *स्वर्गीय आचार्य* से ईषत् रुष्ट वर्तमान प्राचार्य सन्तुष्ट हो जाएँ। गाँठ में कुछ न होने पर माल भी स्वर्गीय आचार्य की ड्योढी से ही उड़ाया जाय! सिद्धों की परम्परा की यह भी एक सिद्धि है!

अनेक विद्वानों ने ब्रजभाषा के विकास और उसकी व्याकरणिक विशेषताओं पर विचार किया है। इनमें आचार्य शुक्ल भी हैं। डा० शिवप्रसाद ने शुक्लजी की बुद्धचरित की भूमिका और रत्नाकरकृत बिहारी रत्नाकर का एकसाथ उल्लेख करते हुए यह मत प्रकट किया है कि 'इनमें न तो पूर्णता है न *वैज्ञानिकता।'* शुक्लजी ने कौन सी अवैज्ञानिक बातें लिखी हैं, इसका उल्लेख करना श्री सिंह ने उचित और आवश्यक नहीं समझा। शुक्लजी का भाषा-विज्ञान से सम्बन्ध ही क्या? ऐक छोटा-सा वाक्य उन्हें और उनके विवेचन को उड़ा देने के लिए क्या पर्याप्त नहीं है?

*यहाँ भी डा० सिंह के भाषा शास्त्रीय विवेचन से शुक्लजी की स्थापनाओं* की तुलना दिलचस्प होगी। पहले ब्रजभाषा की पूर्वपीठिका लीजिए। डा० सिंह कहते हैं, 'हेमचन्द्र के शौरसेनी अपभ्रंश के उदाहरणों की भाषा को हम ब्रजभाषा की पूर्वपीठिका मानते हैं।' 'बुद्धचरित' की भूमिका में इन्हीं हेमचन्द्र के दोहों को उद्धृत करने के बाद शुक्लजी ने लिखा था, "इन पद्यों में हम ब्रजभाषा के भूत-काल और पुं० कर्ता और *कर्मकारक के रूपों के बीज पाते हैं।" 'क्रिया के पुरुष* काल-वर्जित साधारण रूप भी' मौजूद हैं। 'संज्ञा के बहुवचन रूप भी हैं जो अवधी आदि पूरबी भाषाओं मे बिना कारक चिह्न लगे नहीं होते।' शुक्लजी का निष्कर्ष है, 'काव्य की यह भाषा बहुत प्राचीनकाल में बन चुकी थी। यह हिन्दी की काव्य भाषा का पूर्व रूप है। ढाँचा पश्चिमी होने पर भी यह काव्य की सामान्य भाषा थी जिसका प्रचार सारे उत्तरापथ में था।' डा० सिंह से पहले शुक्लजी को पता था कि हेमचन्द्र के दोहों में ब्रजभाषा की अनेक विशेषताएँ मिलती हैं। उसका प्रचार सारे उत्तरापथ था, यह भी उन्हें मालूम था। डा० सिंह ने दोहराया है, हेमचन्द्र के काल में मध्यदेशीय शौरसेनी अपभ्रंश का सारे उत्तर

भारत में आधिपत्य था।' बात एक ही है। अन्तर केवल उत्तर भारत और उत्तरापथ का है!

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि डा० सिंह ने शुक्लजी की कुछ स्थापनाएँ दोहराते हुए कुछ अन्य को छोड़ भी दिया है। शुक्लजी ने बतलाया है कि हेमचन्द्र द्वारा दिए हुए उदाहरणों में ब्रज के अलावा अवधी और खड़ी बोली के रूप भी मिलते हैं। डा० सिंह ने इस तथ्य को ब्रजभाषा के गौरव के विरुद्ध समझकर छोड़ दिया है।

हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत अपभ्रंश रचनाओं के बाद डा० सिंह के अनुसार "अवहट्ठ या पिंगल अपभ्रंश में लिखी सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'प्राकृत पैंगलम्' है, जिसमें बारहवीं से चौदहवीं सदी तक बहुत-सी प्राचीन ब्रज रचनाएँ संकलित की गई हैं।"

शुक्लजी ने उचित लिखा है कि "प्राकृत पैंगलम् में ब्रज के साथ अन्य बोलियों के रूप भी मिले हैं। हेमचन्द्र से उदाहरण देने के बाद उन्होंने लिखा है,' 'इस प्रकार हिन्दी की काव्य भाषा के पूर्व रूप का पता विक्रमी की ११वीं शताब्दी से लगता है। जैसे पहले कहा जा चुका है यद्यपि इस भाषा का ढाँचा पच्छिमी (ब्रज का सा) था। पर यह साहित्य की एक व्यापक भाषा हो गई थी। इस व्यापकता के कारण और प्रदेशों के शब्द और रूप भी इसके भीतर आ गए थे। (विभिन्न बोलियों का तुलनात्मक अध्ययन न करने के कारण डा० सिंह इन रूपों के बारे में बार-बार उलझन में पड़ गए हैं।) ऊपर उद्धृत कविताएँ टकसाली भाषा की हैं और प्रायः पच्छाँह के चारणों और कवियों की रची हैं, इससे उनमें पंजाबी और अवधी ही तक के रूप मिलते हैं। पर 'प्राकृत पिंगल सूत्र' में और पीछे के काल तक की (हम्मीर के समय तक की) तथा और पूरबी प्रदेशों की कविताओं के नमूने भी हैं।" इसके विपरीत डा० सिंह का निष्कर्ष एकांगी है। उनकी पद्धति पल्लवग्राही है; वह पल्लवों को ही वृक्ष कहती है, शाखा, मूल, तना उसे दिखाई नहीं देता। दूसरी ओर शुक्लजी की पद्धति वैज्ञानिक है जो किसी की प्रक्रिया के विभिन्न तत्वों, विरोधी तत्वों को भी देखती है और उनके परस्पर सम्बन्ध और अस्तित्व का कारण खोजती है।

डा० सिंह की पुस्तक से यह नहीं मालूम होता कि वह ब्रज, अवधी और भोजपुरी के सामान्य और विभिन्न तत्वों से भली भाँति परिचित हैं। नामदेव के कुछ पद उद्धृत करने के बाद डा० सिंह ने उनकी भाषा को 'पूर्णतः ब्रज' कहा है। इन्हीं पदों में 'बनिआई', 'बजाई' और 'भेटल' जैसे प्रयोग भी हैं। मेघनाथ के एक उद्धरण में 'करिहै जबही', 'पराहिं पितर', 'धर्म एग अपकीरति होई' आदि प्रयोग हैं और इस भाषा को 'शुद्ध टकसाली ब्रज' कहा गया।

ब्रजभाषा के अध्ययन के लिए औक्तिक ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है।

डा० द्विवेदी के अनुसार डा० सिंह ने 'प्राकृत पैंगलम्, पृथ्वीराजरासो और औक्तिक ग्रन्थों में प्रयुक्त होनेवाली ब्रजभाषा के विभिन्न स्वरूपों का बहुत अच्छा विवेचन किया है।' इस वाक्य से मालूम होता है कि औक्तिक ग्रन्थों में ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया गया था किन्तु डा० सिंह पृष्ठ ७ पर लिखते हैं, "इस प्रकार के ग्रन्थों मे तत्कालीन बोलियों के व्याकरण दिए हुए हैं। इनमें से कोई भी मध्यदेशीय उक्ति या बोली का ग्रन्थ नही है।" अर्थात् जिनमें ब्रजभाषा का प्रयोग नहीं हुआ। डा० द्विवेदी ने उन ग्रन्थों में भी ब्रजभाषा के व्यवहार का पता लगाने का श्रेय अपने शिष्य को दिया है, जहाँ उसके व्यवहार को डा० सिंह स्वयं लापता समझते हैं। इस प्रकार का अन्तर्विरोध गुरु-शिष्य की स्थापनाओं से नहीं है, शिष्य की अपनी स्थापनाओं में भी है। पृष्ठ ७ पर कहा गया है कि इनमें तत्कालीन बोलियों के व्याकरण दिए हुए हैं। पृ० १० पर कहा गया है "वैसे,नव्य भारतीय आर्यभाषाओं का स्वरूप बोध करानेवाले कुछ औक्तिक ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं, किन्तु इनमें किसी निश्चित भाषा का पता नहीं चलता।" यदि किसी निश्चित भाषा का पता नहीं है तो यह कैसे मालूम हुआ कि इनमे तत्कालीन बोलियों के व्याकरण दिए हुए हैं ?

पुनः पृ० १२४ पर कहा गया है कि इन्ही औक्तिक ग्रंथों में मध्यदेश और राजस्थान की बोलियाँ हैं !

ब्रजभाषा का निर्माण कब हुआ ? पृष्ठ ८ पर 'विक्रमान्त १४०० तक ब्रज-भाषा का एक स्पष्ट रूप निर्मित हो चुका था।' आगे चलकर पृष्ठ १८४ पर बताया गया है कि '१५वीं शती का समय हिन्दी का संक्रान्तिकाल था।' इस समय ब्रज, खड़ी बोली और अवधी 'अपनी प्रारम्भिक अवस्था में थीं।' आश्चर्य की बात है कि १४वीं शती में व्यवस्थित होने के बाद ब्रजभाषा १५वीं शती में पुनः प्रारम्भिक अवस्था में आ गई।! पृ० २९० पर सूचित किया गया है कि 'ब्रज-भाषा में कृष्णकाव्य की परम्परा काफी पुरानी है, कम से कम उसका आरम्भ १२वीं शताब्दी तक तो मानना ही पड़ता है।' १५वीं शती में जिस भाषा की प्रारम्भिक अवस्था थी, उसमें कृष्णकाव्य की परम्परा तीन सौ साल पहले से चली आ रही थी। यही नहीं, प्रारम्भिक अवस्था से तीन सौ साल पहले ब्रज और खड़ी बोली के संघर्ष का आरम्भ भी हो गया था। 'खड़ी बोली की विजय कविता की भाषा के रूप १९वीं शताब्दी की घटना है किन्तु ब्रज से उसका युद्ध बहुत पुराना है। १२वीं शताब्दी के संक्रान्तिकाल में इस संघर्ष का आरम्भ हुआ।' (पृ० १३८)

खड़ी बोली के लिए कहा गया है कि दिल्ली के आसपास की बोली होने के कारण उसे 'मुसलमानी काल में बहुत प्रचार और प्रोत्साहन मिला।' (पृ० १३३) इसी पृष्ठ पर यह भी लिखा है कि 'खड़ी बोली हिन्दी १९वीं शताब्दी तक गँवारों की भाषा समझी जाती रही और यदि मुसलमान शासक खड़ी बोली को प्रोत्साहन देने पर तुले थे तो ब्रजभाषा को संगीत के क्षेत्र में क्यों अपनाते थे ? ये सब भाषा-

सम्बन्धी मान्यताएँ तथ्यों की छानबीन करके निश्चित नहीं की गईं। ऐसा लगता है कि ऋषियों के मंत्रों की तरह उल्लास के क्षणों में उन्होंने शोधक को दर्शन दिए हैं। ऋषियों के प्रसंग में उनकी भाषा से सम्बन्धित यह वाक्य भी उल्लेखनीय है, 'ऋग्वैदिक भाषा आश्चर्यजनक रूप से पूर्वी ईरान और अफगानिस्तान में बसे हुए तत्कालीन कबीलों की बोली से साम्य रखती है।' (पृष्ठ १८) ईरान और अफगानिस्तान के तत्कालीन कबीलों की बोलियों के नमूने कहाँ प्राप्त हुए? इनसे ऋग्वेद की भाषा की तुलना किसने और कहाँ की है? इन सब प्रश्नों का एक ही उत्तर है, इलहाम!

दो शब्द अप्रकाशित ग्रन्थों की तिथि-सम्वत् के बारे में। डा० शिवप्रसादसिंह ने जिस तरह ब्रजभाषा के व्यवस्थित और प्रारम्भिक रूपों का काल निर्णय किया है, उससे ग्रन्थों के रचनाकाल के बारे में उनके मत पर स्वभावतः सन्देह होने लगता है। प्रद्युम्न चरित की विभिन्न प्रतियों में संवत् अलग-अलग दिए हुए हैं। जिस प्रति के आधार पर डा० सिंह ने उसका रचनाकाल संवत् १४११ बताया है, उसके संवत् को श्री अगरचन्द नाहटा ने अग्राह्य माना है किन्तु डा० हीरालाल ने सही ठहराया है। नाहटा जी का कहना है कि प्राचीन संवतों की जन्त्री को देखा गया तो ग्रन्थ में दी हुई तिथियों में वदी पंचमी, सुदी पंचमी और नवमी तीनों दिन शनिवार और स्वाति नक्षत्र नहीं पड़ता। इसी प्रकार कवि दामो की लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा में उल्लिखित संवत्, तिथि, दिवस और नक्षत्रों की जाँच होनी चाहिए। शोधकर्ता ने यह जाँच नहीं की। दूसरे ने जाँच की हो तो वह उसका उल्लेख भरकर देता है, न की हो तो आँख मूँदकर उसे स्वीकार कर लेता है। 'डूँगर बावनी' की रचना का संवत् विश्वास के साथ १५३८ लिखा गया है। उसके बाद के ही वाक्य में यह सूचना दी गई है, 'तिथिकाल का जो संकेत कवि करता है, उसका अर्थ १५४८ भी हो सकता है।' कवि ठक्कुरसी की पचेंद्रिय बेलि में जो समय दिया गया है, उसके अनुसार लेखक ने उसे संवत् १५५० की रचना माना है किन्तु पुस्तक से यह उद्धरण भी दिया गया है, 'इति श्री पंचेंद्रिय समाप्त। संवत् १६८८ आसोज वदि दूज, सुकरवार लिखितम् जोतावारणी आगरा मध्ये।' पुस्तक सम्वत् १५५० में लिखी गई या १६८८ में? या पुस्तक की रचना १५५० में हुई और कवि ने १३८ वर्ष (५० + ८८) बाद उसकी प्रतिलिपि की या अन्य किसी ने उसकी प्रतिलिपि की या अन्य किसी ने उसकी नकल की? इन सब प्रश्नों का कोई उत्तर शोधग्रन्थ में नहीं है।

अस्तु! शोधग्रंथ की मूल स्थापनाएँ दो हैं: सूरपूर्व काव्य से पहले भक्ति की परम्परा स्थापित हो चुकी थी; सूरपूर्व काव्य में ब्रजभाषा का प्रयोग होता था। इन दो स्थापनाओं की सिद्धि के लिए लेखक ने हिन्दी के इतिहासकारों, विशेष रूप

से आचार्य शुक्ल पर यह आरोप लगाया कि उन्होने इन दोनों तथ्यों को अस्वीकार किया है या उन पर ध्यान नहीं दिया। वास्तविकता यह है कि न तो शुक्लजी ने भक्ति का आरम्भ वल्लभाचार्य से माना था, न सूरदास के साथ ही ब्रजभाषा के प्रकट होने की कल्पना की थी। उन्होंने बार-बार भक्ति और ब्रजभाषा काव्य, दोनों की सूरपूर्व परम्परा पर जोर दिया था। डा० शिवप्रसादसिंह ने एक ओर शुक्लजी के मत को गलत ढंग से प्रस्तुत किया है, जिससे उनके अनुसंधान की मौलिकता सिद्ध हो; दूसरी ओर भक्ति औरभाषा—दोनों ही की पुरानी कड़ियाँ-ढूँढ़ते हुए उन्होंने शुक्लजी की ही स्थापनाओं को दोहराया है और इस दोहराने में अपने एकांगी और असंतुलित दृष्टिकोण के कारण उनकी अनेक महत्वपूर्ण स्थापनाओं को छोड़ भी दिया है।

शायद थीसिस लिखने के लिए यह आवश्यक होता है कि पूर्वाचार्यों के कार्य को हीन सिद्ध किया जाय और अपने अनुसन्धान की मौलिकता को बढ़ा-चढ़ा कर दिखाया जाय। उपाधि प्राप्त करने के लिए परीक्षकों पर यों रोब जमाया जाय तो क्षम्य है लेकिन थीसिस प्रकाशित करते समय ऐसे अंश निकाल देने चाहिये।

शुक्लजी हिन्दी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ आलोचक हैं। वह अपने युग के श्रेष्ठ आलोचक थे, और इस थीसिस-युग के भी हैं। शिष्टता का तकाजा है कि कम से कम वे लोग उन पर व्यर्थ आक्षेप न करें जो मौलिक अनुसंधान का दावा करते हुए उन्हीं की स्थापनाओं को दोहराते हैं। डा० शिवप्रसादसिंह में परिश्रम करने की क्षमता है किन्तु वे अकाल ही महत्वकांक्षा से पीड़ित ही हैं। इसका दोष विश्वविद्यालयों के उस वातावरण को है जहाँ अनेक आचार्य शुक्लजी के आच्छादक व्यक्तित्व को हटते न देखकर उन्हें बार-बार ढकेलने का प्रयास करते देखे जाते हैं। चाहिए तो यह कि पुराने आचार्यों की देन को जहाँ हम उससे सहमत हों—कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करें। जहाँ नया अनुसंधान करें उसकी चर्चा भी नम्रता से करें। इसके विपरीत इस ग्रंथ में शुक्लजी को तो धता बताई गई है और उन आचार्यों की स्तुति की गई है जो शोधग्रंथों के निर्देशक थे या आगे उसके परीक्षक हो सकते थे। इस मनोवृत्ति को बढ़ावा देने वाले ये आचार्य लोग ही हैं जो शुक्ल जी के समान आदर और सम्मान न पाने से हिन्दीभाषियों से रुष्ट हैं। नये अनुसंधानकर्ताओं को इनके रचे हुए दूषित वातावरण से बचना चाहिए।